अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष-41, अंक-16, 01-15 अप्रैल, 2018

6 अप्रैल
दांडी सत्याग्रह-दिवस



"हवा और पानी के बाद शायद नमक ही जीवन की सबसे बड़ी जरूरत है। गरीबों के लिए तो यही एक मसाला है। मवेशी भी बगैर नमक के नहीं रह सकते...पानी को छोड़कर नमक जैसी और कोई चीज नहीं है, जिस पर 'कर' लगाकर कोई सरकार करोड़ों भूखों मरने वालों, बीमारों, लूले-लंगड़ों और बेसहारों तक से भी 'कर' वसूल कर सके। इसलिए यह 'नमक कर' मानव की बुद्धि द्वारा खोज निकाला गया एक बहुत ही अमानवीय 'कर' है।"

-गांधी

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष : 41, अंक : 16, 01-15 अप्रैल, 2018

प्रधान संपादक
बिमल कुमार
मो. : 9235772595
संपादक
अशोक मोती
फोन : 9430517733

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह भवानी शंकर 'कुसुम'

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

मूल्य	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC No. UBIN-0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. 'नमक सत्याग्रह' स्वतंत्रात की दिशा... 2
2. स्वतंत्रता बनाम स्वराज... 3
3. सत्याग्रह : पानी में पड़ी आग... 5
4. उपन्यास - 'बा'... 11
5. एक मुट्ठी नमक... 13
6. नमक ने बदला राजनीति का स्वाद... 15
7. कविता : अकेला कहां मैं... 20

संपादकीय

'नमक सत्याग्रह' स्वतंत्रता का पहला कदम

1917; चम्पारण में नीलहों के उद्धार के बाद गांधी ने जब 1930 में 'नमक सत्याग्रह' करने की घोषणा की, तो इसके सफल होने की रत्तीभर भी संभावना अधिकांश लोगों की नजरें नहीं देख सकीं। यहां तक कि ब्रिटिश शासन भी अंदर से बहुत खुश था कि इस तरह के आंदोलन को तो असफल होना ही है। तर्क यह था कि 1857 के गदर के बाद से 1930 तक, जब गांधी ने 'नमक सत्याग्रह' की घोषणा की, तो उस समय 'नमक-कर' बहुत कष्टकारी नहीं था और इसलिए उसका अभी तक कोई उल्लेखनीय विरोध भी नहीं हुआ था। लोगों को यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आ रही थी कि भला 'नमक सत्याग्रह' से स्वराज्य कैसे होगा। फिर भी गांधी जो देश में राष्ट्रव्यापी स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, नमक की कीमत सही रूप में पहचान ली। जिस तरह कोई क्रांतिकारी नेता वक्त की नब्ज अच्छी तरह पहचानता है कि किस समय क्रांति की धुन फूंकी जाय, क्या लक्ष्य बनाये जायं और क्रांति के साधन क्या हों? वैसे ही गांधी अपने निर्णय पर तटस्थ थे। उन्होंने कहा कि 'हवा और पानी के बाद शायद नमक ही जीवन की सबसे बड़ी जरूरत है। गरीबों के लिए तो यही एक मसाला है। मवेशी भी बगैर नमक के नहीं रह सकते...पानी को छोड़कर नमक जैसी और कोई चीज नहीं है, जिस पर 'कर' लगाकर कोई सरकार करोड़ों भूखों मरने वालों, बीमारों, लूले-लंगड़ों और बेसहारों तक से भी 'कर' वसूल कर सके। इसलिए यह 'नमक कर' मानव की बुद्धि द्वारा खोज निकाला गया एक बहुत ही अमानवीय 'कर' है।'

इसीलिए गांधी ने ब्रिटिश शासन का नमक पर स्थापित अवैध एकाधिकार एकदम हटाने का मन बना लिया और घोषणा कर दी 'नमक सत्याग्रह स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम है।'

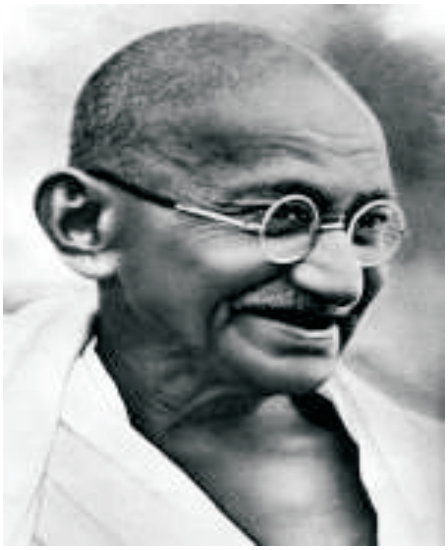
गांधी के इस निर्णय ने बड़ा काम किया। 'नमक कर' के विरोध के कारण कई और कर विरोधी आंदोलन शुरू हो गये और कई प्रकार के 'कर' देने से लोगों ने इनकार भी कर दिया। आयातीत वस्त्रों का कर न चुकाने की हवा चल पड़ी। नमक सत्याग्रह से देश और दुनिया में गांधी का नाम हुआ और स्वतंत्रता आंदोलन में एक नयी ऊर्जा का संचार हुआ। अंततः देश आजाद हुआ।

गांधी जिस समय आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे, उनका मकसद ब्रिटिश को भारत से भगाना मात्र नहीं था, बल्कि उनका उद्देश्य था आजादी के बाद नये भारत का क्या स्वरूप हो और भारत व विश्व के गुलाम देश किस तरह आजाद हों। गांधी ने इस आंदोलन में जिस अहिंसा का सफल परीक्षण किया, वह अहिंसा की कल्पना बहुत व्यापक थी। उन्होंने अहिंसा को खुद अपने जीवन में सहजता से उतारा, उनका दृढ़ मत था कि अहिंसा किसी के व्यक्तिगत आचार के नियम मात्र नहीं है, बल्कि वह संसार के सभी समुदाय, जाति और राष्ट्रों की नीति हो सकती है।

सवाल है कि भारत का सही स्वरूप है क्या? 19वीं सदी के जागरण, जिसमें भारतीय समाज की कुप्रथाओं पर प्रहार हुआ और फिर 20वीं सदी में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत ने जो मूल्य स्थापित किये तथा अपने अभीष्ट की जो रूपरेखा बनायी और जिस समाज की कल्पना की, वह क्या है? निःसंदेह ये मूल्य हैं धर्म-निरपेक्षता, आधुनिकता, समता, जाति और शोषण मुक्त समाज, किन्तु इसमें हम काफी पीछे रह गये। वैश्विक पूंजी का दबाव भारत पर स्पष्ट है, जिसके कारण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक विषमता की खाईं चौड़ी हुई है, क्योंकि हम गांधी के बताये रास्ते से भटके हुए हैं। गांधी ने जो भारत के लिए सपने देखे थे, वे थे-लोकतंत्र में जनभागीदारी बढ़ाना, चंद हाथों में इकट्ठी पूंजी का गांव तक वितरण ताकि भारतीय गांव और किसानों की आवाज देश में सबसे ऊपर हो। गांधी ने स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान देश की कोई ऐसी समस्या नहीं रही, जिसके उपाय और प्रशिक्षण हमें नहीं दिये। गांधी के भारत में नये जीवन, नयी सभ्यता और नये मनुष्य की जो कल्पना थी, वह आज वैश्विक पूंजी के गिरफ्त में है, उससे निजात दिलाना हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए, ताकि हम गांधी के वायदों को पूरा कर सकें। **–अशोक मोती**

स्वतंत्रता बनाम स्वराज

❑ गांधी



कहा जाता है कि 'स्वतंत्रता' का प्रस्ताव लॉर्ड बर्कनहेड का माकूल जवाब है। अगर यह बात संजीदगी से कही गयी है, तो यह स्पष्ट है कि हमें इसका कोई अनुमान तक नहीं कि शाही आयोग नियुक्त करने और उसकी नियुक्ति की घोषणा से उत्पन्न परिस्थिति का ठीक-ठीक क्या उपयुक्त उत्तर हो सकता है। इस नियुक्ति के जवाब में यह जरूरी नहीं कि बड़े जोशीले भाषण दिये जायें। बड़ी-बड़ी बातें बनाने से भी कुछ होना-जाना नहीं है; इसके लिए तो कुछ वैसा ही माकूल और भरपूर काम कर दिखाना होगा जो ब्रिटिश मंत्री, उनके साथी और पिछलगुओं की करनी के लायक हो। फर्ज कीजिए कि अगर कांग्रेस किसी किस्म का कोई प्रस्ताव पास न करती, मगर अपने पास के सारे-के-सारे विदेशी कपड़ों की होली जला डालती और सारे राष्ट्र से ऐसा भी उस नियुक्ति के अपमान का भरपूर जवाब तो नहीं ही होता। अगर कांग्रेस हर एक सरकारी कर्मचारी से हड़ताल करा देती, ऊंचे-से-ऊंचे न्यायाधीशों से लेकर, नीचे मामूली चपरासी या सिपाही और फौजी सेना तक से, उनका काम बंद करा देती, तो वह यथेष्ट समुचित उत्तर होता। इतना तो इससे जरूर ही होता कि जिस बेफिक्री और लापरवाही से आजकल ब्रिटिश मंत्रीगण और दूसरे अधिकारी, हमारे गर्जन-तर्जन को सुन रहे हैं, उनका वैसा अविचलित भाव न बना रह पाता।

कहा जा सकता है कि यह परामर्श है तो सर्वथा दोषरहित, मगर मुझे इतना समझना चाहिए कि इसे अमल में किसी तरह नहीं लाया जा सकता, मैं ऐसा नहीं मानता। आज कितने ही भारतीय हैं जो इस समय चुप तो हैं, पर अपने-अपने ढंग से उस शुभ दिन की तैयारी कर रहे हैं, जब कि हमें गुलाम बनाये रखने वाली इस सरकार को चलाने वाला हर हिन्दुस्तानी इस अराष्ट्रीय नौकरी को लात मार देगा। कहा जाता है कि जब कुछ कर दिखाने की ताकत न हो तो जबान पर ताला लगाये रखने में ही साहस है; अक्लमन्दी तो जरूर ही है। बिना कुछ किये महज बहादुरी-भरे भाषण झाड़ना, शक्ति का अपव्यय ही होगा। फिर सन् 1920 में जब देशभक्तों ने भाषण के बदले जेलखाने भरना सीख लिया, तब से जोशीले भाषणों की तड़क-भड़क जाती रही। वाणी तो उनके लिए जरूरी है, जिनकी जबान को काठ मार गया हो। गर्जन-तर्जन करने वालों के लिए तो संयम ही चाहिए। अंग्रेज शासक हमारे भाषणों पर हमारा मखौल बनाते हैं, और उनके कामों से अक्सर प्रकट होता है कि वे हमारे भाषणों की रत्ती-भर भी परवाह नहीं करते और इस प्रकार बिना कुछ कहे ही, वे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से हमें ताना देते हैं : 'हिम्मत हो तो कुछ करो।' जब तक हम इस चुनौती का जवाब नहीं दे सकते, मेरी सम्मति में, हमारी धमकाने वाली एक-एक बात, एक-एक इशारा हमारी ही अपनी जिल्लत है, अपनी नामर्दी का आप डंका पीटना है। मैंने देखा है कि जंजीरों का महज मन बहलाव ही होता है।

और फिर, क्या किसी अंग्रेज द्वारा की गयी किसी ज्यादती का बदला लेने के लिए ही हमने स्वतंत्रता को एकाएक अपना लक्ष्य बना लिया है? क्या कोई, किसी को खुश करने के लिए या उसकी करतूतों का विरोध करने के लिए ही अपना ध्येय निश्चित करता है? मेरा कहना है कि ध्येय तो एक ऐसी चीज है, जिसकी घोषणा की जानी चाहिए और जिसकी प्राप्ति के लिए काम करते ही जाना चाहिए, बिना इसका ख्याल किये कि दूसरे क्या कहते हैं या क्या धमकी देते हैं।

इसलिए हम यह भी समझ लें कि स्वतंत्रता से हमारा क्या अभिप्राय है। इंग्लैंड, रूस, स्पेन, इटली, तुर्की, चिली, भूटान सभी को स्वतंत्रता प्राप्त है। हम इनमें से किसके जैसी स्वतंत्रता चाहते हैं? यहां यह न कहा जाये कि मैं वही बात सिद्ध मान रहा हूं, जिसे सिद्ध करना है। क्योंकि अगर यह कहा जाये कि हमें भारतीय ढंग की स्वतंत्रता की चाह है तो यह दिखलाया जा सकता है कि कोई दो भारतीय, इस भारतीय ढंग की स्वतंत्रता की, एक तरह की परिभाषा नहीं बतलायेंगे। बात दरअसल यह है कि हम अपना परम ध्येय जानते ही नहीं। और इस ध्येय का रूप हमारी परिभाषाओं से नहीं, बल्कि स्वेच्छा या अनिच्छापूर्वक किये गये हमारे कामों से ही निश्चित होगा। अगर हममें अबल है तो हम वर्तमान को संभाल लेंगे, भविष्य अपनी फिक्र आप कर लेगा। इसलिए अगर हम आज का काम आज ही खत्म कर लें तो यही बहुत होगा।

मेरा यह भी दावा है कि स्वराज के ध्येय से सबको सर्वदा पूरा संतोष मिल सकता है। हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी अनजाने में यह मान लेने की भयंकर भूल अक्सर किया रते हैं कि अंग्रेजी बोलने वाले मुट्ठी भर आदमी ही समूचा हिन्दुस्तान हैं। मैं हर किसी को चुनौती देता हूं कि 'इंडिपेंडेंस'

के लिए, वे एक ऐसा सर्व सामान्य भारतीय शब्द बतलायें, जो जनता भी समझती हो। आखिर हमें अपने ध्येय के लिए कोई ऐसा स्वदेशी शब्द तो चाहिए, जिसे तीस करोड़ लोग समझते हों। और ऐसा एक शब्द है स्वराज, जिसका राष्ट्र के नाम पर पहले-पहल प्रयोग श्री दादाभाई नौरोजी ने किया था। यह शब्द स्वतंत्रता से काफी कुछ अधिक का द्योतक है। यह एक जीवन्त शब्द है। हजारों भारतीयों के आत्म-त्याग से यह शब्द पवित्र बन गया है। यह एक ऐसा शब्द है जो अगर दूर-दूर तक, हिन्दुस्तान के कोने-कोने में प्रचलित नहीं हो चुका है तो कम-से-कम इसी प्रकार के सभी दूसरे शब्दों से अधिक प्रचलित तो जरूर है। इसे हटाकर, बदले में कोई ऐसा विदेशी शब्द प्रचलित करना, जिसके अर्थ के बारे में हमें शंका है, एक प्रकार का अनाचार होगा। यह स्वतंत्रता का प्रस्ताव ही शायद इस बात का सबसे बड़ा और अंतिम कारण बन गया है कि हम कांग्रेस की कार्रवाई हिन्दुस्तानी और सिर्फ हिन्दुस्तानी में ही चलाये। यदि सारी कार्रवाई हिन्दुस्तानी में चलती तो फिर इस प्रस्ताव के साथ जैसी बुरी बीती है, उसकी कोई गुंजाइश ही न रह जाती। तब तो सबसे अधिक जोशीले भाषण देने वाले भी स्वराज शब्द के भारतीय अर्थ को ही सजाने-संवारने में और उनसे जैसी भी बन पड़ती, इसकी शानदार या घटिया परिभाषा करने में ही अपनी सार्थकता मानते। क्या इससे ये 'इंडिपेंडेंट' लोग कुछ सबक सीखेंगे और जिसको वे आजाद करना चाहते हैं, उस जनता में काम करने का निश्चय करेंगे और जन-सभाओं में, जैसे कि कांग्रेस वगैरह की सभाओं में, अंग्रेजी बोलना बिलकुल छोड़ देंगे?

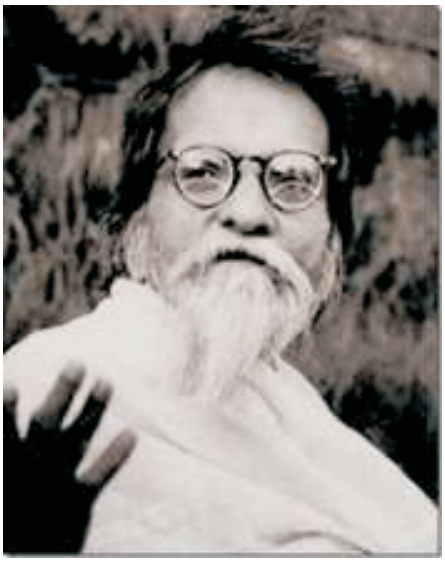
खुद तो मुझे उस स्वतंत्रता की कोई चाह नहीं, जिसे मैं समझता ही नहीं। मगर हां, मैं अंग्रेजों के जुए से छूटना चाहता हूं। इसके लिए मैं कोई भी कीमत चुका सकता हूं। इसके बदले में मुझे अव्यवस्था भी मंजूर है। क्योंकि अंग्रेजों की शांति तो श्मशान की शांति है। एक सारे राष्ट्र के लिए जीवित होकर भी मुर्दे के समान जिन्दा रहने की इस स्थिति से तो कोई भी दूसरी स्थिति अच्छी रहेगी। शैतान के इस शासन ने इस सुंदर देश का आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से प्रायः सत्यानाश ही कर दिया है। मैं रोज देखता हूं कि इसकी कचहरियां न्याय के बदले अन्याय करती हैं, और सत्य के गले पर छुरी फेरती हैं। मैं भयाक्रांत उड़ीसा को अभी देखकर आ रहा हूं। यह सरकार अपना पापपूर्ण अस्तित्व बनाये रखने के लिए मेरे ही देश-बंधुओं को इस्तेमाल कर रही है। मेरे पास कई शपथ-पत्र अभी रखे हुए हैं कि खुर्दा जिले में प्रायः तलवार की नोक के बल पर, लोगों से लगान-वृद्धि की स्वीकृति के कागजों पर दस्तखत कराये जा रहे हैं। इस सरकार की बेमिसाल फिजूल खर्ची ने हमारे राजा-महाराजाओं का सिर फेर दिया है जो इसकी बंदर के समान नकल उतारने में, नतीजों की ओर से लापरवाह होकर, अपनी प्रजा को धूल में मिला रहे हैं। यह सरकार अपना अनैतिक व्यापार कायम रखने के लिए नीच-से-नीच काम करने से बाज आने वाली नहीं है। 30 करोड़ आदमियों को एक लाख आदमियों के पैरों तले दबाये रखने के लिए, यह सरकार इतने बड़े सैनिक खर्च का भार लादे हुए है, जिसके कारण आज करोड़ों आदमी आधे पेट रहते हैं, शराब से हजारों के मुंह अपवित्र हो रहे हैं।

मगर मेरा धर्म तो हर हालत में अहिंसापूर्ण आचरण करना है। मेरा तरीका तो बल प्रयोग का नहीं, मत-परिवर्तन का है। यह तो है स्वयं कष्ट सहन करने का, न कि अत्याचारी को कष्ट देने का। मैं जानता हूं कि सारा-का-सारा देश इसे सिद्धांत के रूप में स्वीकार किये बिना, इसकी गहराई को समझे बिना भी, इसे अपना सकते हैं। सामान्यतया लोग अपने हर काम के दार्शनिक पक्ष को नहीं समझते। मेरी महत्त्वाकांक्षा तो स्वतंत्रता से कहीं ऊंची है। भारतवर्ष के उद्धार के जरिये ही मैं पश्चिम के उत्पीड़न से पीड़ित संसार के सभी निर्बल देशों का उद्धार करना चाहता हूं। इस उत्पीड़न में इंग्लैंड सबसे आगे है। हिन्दुस्तान जिस तरह अंग्रेजों का मत-परिवर्तन कर सकता है, अगर वह करे तो एक विश्वव्यापी राष्ट्र-मंडल का, स्वयं एक मुख्य भागीदार हो सकता है, जिसमें इंग्लैंड अगर चाहे तो हिस्सेदार होने का आदर पा सकेगा। काश हिन्दुस्तान इस बात को समझ ले कि विश्वव्यापी राष्ट्र-मंडल का एक मुख्य सदस्य बनने का उसे हक है, इसलिए कि उसकी जनसंख्या अत्यन्त विशाल, उसकी भौगोलिक परिस्थिति इसके उपयुक्त और युग-युग की विरासत में मिली, उसकी संस्कृति अत्यन्त उच्च है। मैं जानता हूं मैं एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूं। स्वयं हीनावस्था में पड़े भारतवर्ष के लिए यह आशा करना कि वह संसार को हिला देगा, निर्बल जातियों की रक्षा करेगा, धृष्टतापूर्ण लग सकता है। मगर स्वतंत्रता की इस पुकार के प्रति अपने घोर विरोध को स्पष्ट करते हुए मुझे अपना आदर्श आपके सामने अब रखना ही पड़ेगा। मेरी यह महत्त्वाकांक्षा ऐसी है, जिसे पूरी करने के लिए जीना और प्राणों की बलि देना भी उचित होगा। मैं नतीजों के डर से, कभी सर्वोत्तम से जरा भी निचले स्तर की, किसी स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। मैं स्वतंत्रता को अपना ध्येय बनाने का विरोध इसलिए ही नहीं कर रहा हूं कि समय इसके अनुकूल नहीं है। मैं चाहता हूं कि भारत वर्ष पूरी गरिमा के साथ अपने पैरों पर खड़ा हो, और उस स्थिति का निरूपण 'स्वराज' शब्द से अधिक अच्छी तरह अन्य किसी भी एक शब्द से नहीं हो सकता। 'स्वराज' में कैसा और कितना सार-तत्त्व होगा, यह इस बात से निर्धारित होगा कि राष्ट्र किसी अवसर विशेष पर कितना क्या कर पाता है। भारत के अपने पैरों खड़े होने का अर्थ होगा कि प्रत्येक राष्ट्र अपने पैरों खड़ा होने लगेगा।

यंग इंडिया, 12-1-1928, (अंग्रेजी से) ❑

सत्याग्रह : पानी में पड़ी आग

❑ विनोबा



मानव पहले शिकार करता था और जैसे दूसरे प्राणी रहते हैं, वैसे ही रहता था। उसके लिए हिंसा अनिवार्य थी, जैसे जंगल के दूसरे प्राणियों के लिए अनिवार्य होती है। उससे छुटकारा पाने की तरकीब मानव को हिन्दुस्तान में ही सबसे पहले सूझी। वह तरकीब थी, खेती करना। आज यह मालूम नहीं कि खेती में इतना बड़ा आध्यात्मिक रहस्य छिपा है। दो-चार दाने बो कर उसमें से सौ दाने पैदा करना और फिर जैसा चाहें वैसा उदर-निर्वाह करना—यह एक विशेष ही बात उस समय मानव को सूझी। तभी से हिन्दुस्तान में लोगों को अहिंसक जीवन का मार्गदर्शन मिला। फिर मांसाहार के त्याग का आंदोलन चला, और जैनों ने उसमें पूर्णता प्राप्त की। बुद्ध भगवान ने उसके साथ अहिंसा और करुणा जोड़ दी और वैदिकों ने खेती की उपासना। इस तरह एक-एक कदम आगे बढ़ते-बढ़ते हिन्दुस्तान का सर्वसाधारण समाज अहिंसा की खोज में आगे बढ़ता गया।

आज विज्ञान के कारण परस्पर के संबंध, व्यापार, व्यवहार आदि सीमित और संकुचित नहीं रहे। वे व्यापक बन गये। यातायात के साधन तेज हो गये और जनसंख्या बढ़ गयी। इन सबके परिणामस्वरूप जो मसले और संघर्ष पैदा हुए, वे भी सीमित नहीं रहे। कई प्रकार के अन्यायों के प्रतिकार की जरूरत महसूस हुई। अन्याय के प्रतिकार के साधन, समाज में निर्माण होने वाले मसले कैसे हल हों, इसका उपाय ढूंढ़ने की आवश्यकता पैदा हुई। आज जो मसले पैदा होते हैं, वे छोटे नहीं रहते। सवालों का क्षेत्र व्यापक बन गया है। इन दिनों जो सवाल पैदा होते हैं, वे समस्या के रूप में दुनिया के सामने खड़े हो जाते हैं।

ऐसी हालत में हिन्दुस्तान में एक और चीज की खोज हुई, वह है सत्याग्रह। जैसे प्राचीन काल में खेती की खोज हुई और हम अहिंसक जीवन के लिए प्रस्तुत हो गये, वैसे ही अर्वाचीन काल में सामाजिक मसले सत्याग्रह के द्वारा हल करने के तरीके की एक झलक हाथ आयी। उससे देश, समाज और विश्व-व्यापक मसले भी हल किये जा सकते हैं, इसकी खोज अर्वाचीन काल में हिन्दुस्तान में हुई। आज खेती की काफी प्रगति हुई है और पहले के जमाने से उसमें काफी सुधार भी हुए हैं। लेकिन उस जमाने में जैसे खेती मुश्किल से करनी पड़ती होगी, वैसे ही आज हमारा सत्याग्रह मुश्किल से चलेगा। हमें कोई आसान और सुव्यवस्थित तरीका नहीं मिला है। लेकिन जैसे आज विज्ञान के कारण खेती का आसान तरीका प्राप्त हुआ है, वैसे ही सत्याग्रह का भी आसान तरीका आगे मिल जायेगा। सर्वसाधारण के लिए हम आज इसका शास्त्र नहीं बना सके हैं। यह आसान बात नहीं है। इसमें कई प्रकार की खोज या संशोधन करेंगे तो एक बड़ा भारी कदम उठायेंगे और सजा को सामाजिक हिंसा से बचा लेंगे। खेती का विकास पांच हजार वर्षों से होता आ रहा है, फिर भी अभी वह बाकी है। इसलिए सत्याग्रह के विकास के लिए भी कुछ हजार वर्ष लगें तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु वह चीज हाथ तो आ गयी है।

अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को अपने हाथ में लेने के बाद एक बड़ा भारी 'पराक्रम' किया। इसके पहले किसी ने भी ऐसा प्रयोग करने की हिम्मत नहीं की थी। उन्होंने सारे-के-सारे देश को निःशस्त्र बना दिया। जिन पर सत्ता चलायी और जिन्होंने सत्ता चलायी, दोनों के लिए यह भयानक प्रयोग रहा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान के लोगों में सिर उठाने की ताकत नहीं रही। वे निरंतर भयभीत रहे। अंग्रेजों के इस भयंकर प्रयोग से हिन्दुस्तान की कमर ही टूट गयी।

अब, जबकि इतनी बड़ी भारी जमात, सारा-का-सारा देश, बीस-तीस करोड़ लोग जहां हैं, जिसका इतिहास भी वर्षों पुराना है, जिसकी अपनी एक परंपरा चली आ रही है, और जो कोई जंगली नहीं, उत्तम संस्कारयुक्त देश है—उस देश के सब लोगों को निःशस्त्र किया जाये, तो उसके सामने क्या रास्ता रह जाता है, सिवा इसके कि वह कोई ऐसा शस्त्र ढूंढ़ निकाले, जिससे निःशस्त्र होते हुए भी गुलामी का मुकाबला कर जालिम के जुल्मों से मुक्ति पा सके। यह तो असंभव था कि हिन्दुस्तान जैसा देश सदा के लिए गुलाम बना रहे। किसी-न-किसी को यह सूझना ही था कि आत्मिक शक्ति का व्यापक उपयोग किया जाये और जालिम के जुल्मों से मुक्ति पायी जाये।

ऐसे मौके पर महात्मा गांधी आये। वे कहने लगे—"आत्मा में ताकत है, शस्त्र की जरूरत नहीं। सरकार को हमने ही सिर पर उठाया है। अगर चाहेंगे, तो फिर से नीचे पटक सकते हैं। प्रजा के सहयोग के बिना कोई भी सरकार सत्ता नहीं चला सकती। इसलिए हम सब एक होकर मांग करेंगे और अगर वह पूरी न हुई तो सत्ता के साथ सहयोग नहीं करेंगे।" वह संतपुरुष की शक्ति थी।

हिन्दुस्तान की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी शक्ति का निर्माण आवश्यक था। महात्मा गांधी न होते तो दूसरा कोई महापुरुष खड़ा होता। ईश्वर की योजना में यह नहीं हो सकता कि इतना बड़ा देश सदा के लिए गुलाम रहे। इसलिए इस शक्ति का आविष्कार होना लाजिमी था।

दो विचारधाराएं चलती आयी हैं। एक, वैर से वैर बढ़ता ही है, इसलिए निर्वैर रहना चाहिए और दो, समाज में जहां कहीं भी अन्याय होता है, वहां उसका प्रतिकार करना ही चाहिए। अन्याय हरगिज सहना नहीं चाहिए। ये दोनों विचार समानांतर चलते आये हैं। अन्याय-प्रतिकार की इस विचार-प्रणाली में राणा-प्रताप, शिवाजी जैसे अनेक महापुरुष निर्माण हुए। उन्होंने माना कि अन्याय का प्रतिकार शस्त्र से भी करना चाहिए। फिर भी उनकी ओर से स्वतंत्र आक्रमण नहीं हुए। अन्याय-प्रतिकार का यह लक्षण है कि हम प्रतिकार जरूर करेंगे, पर अपनी ओर से किसी पर आक्रमण करना अन्याय है। यह एक धर्म-विचार था। दूसरा विचार को मानने वाली जो परंपरा हिन्दुस्तान में चली, वह संतों की परंपरा है। कबीरदास, तुलसीदास आदि की वृत्ति निर्वैर थी। यानी संतों की परंपरा है निर्वैर वृत्ति और वीरों की परंपरा है अन्याय-प्रतिकार।

गांधीजी ने संतों की परंपरा को प्रतिकार से जोड़ दिया। उन्होंने कहा कि 'हम निर्वैर रहेंगे और प्रतिकार भी करेंगे।' यह एक बड़ा भारी विचार सारी दुनिया को मिला, जहां निर्वैरता और प्रतिकार-वृत्ति दोनों का मिश्रण हुआ। निर्वैरता से प्रतिकार की शक्ति बढ़ी और प्रतिकार से निर्वैरता की शक्ति बढ़ी।

प्रेम की महिमा लोग जानते हैं, परंतु प्रेम रक्षणकारी बनेगा ऐसी श्रद्धा लोगों में नहीं है। ज्ञान की महिमा लोग समझते हैं, लेकिन ज्ञान रक्षणकारी होगा, ऐसा विश्वास भी नहीं है। इसलिए एक होता है सेना विभाग और दूसरा शिक्षा विभाग। शिक्षा विभाग सुधार के लिए चाहिए और सेना विभाग दंड के लिए। कुछ महान लोग इन दोनों को विरोध के बावजूद जीवन में एकत्रित करते हैं। इससे विरोध मिटता नहीं। सिलाई हो जाती है, पर एक अखंड वस्तु बनती नहीं।

सर्वोदय में सत्याग्रह का जो दर्शन हुआ, उसके परिणामस्वरूप सिलाई मिट गयी और तानाबाना एकरूप होकर अखंड वस्त्र बन गया। सत्याग्रह में संत और वीर, दोनों एक हो जाते हैं। दोनों एक-दूसरे में पिरोये जाते हैं, सीये नहीं जाते। यह सत्याग्रह की खूबी है। यह अपने देश की चीज है। लंबे अनुभवों का परिणाम है। इसका थोड़ा दर्शन गांधीजी के कारण हुआ।

नई परिस्थिति के लिए नया ही चिन्तन चाहिए। मुहम्मद पैगम्बर लोगों को समझाने लगे तो उन्हें बहुत प्रकार की तकलीफ दी गयी। उनके अनुयायियों को भी, जो थोड़े-से थे, काफी तकलीफ सहन करनी पड़ी। जब उन्होंने देखा कि बहुत सताए जाने पर अनुयायियों में से बहुतों की ताकत टूट रही है, वे घबरा रहे हैं, तब उन्होंने सशस्त्र प्रतिकार की भी इजाजत दी। उसका क्या परिणाम हुआ, यह सब इतिहास का विषय है। उसमें हमें नहीं पड़ना चाहिए। हमें मानना होगा कि उस जमाने में उनके सामने जो परिस्थिति थी, उसमें जो बेहतरीन हो सकता था, वही उन्होंने किया। आज की हालत को ध्यान में रखकर जो निर्णय लेते हैं, वे उन पर लादें, यह उचित नहीं होगा। कुरान में यही मिलता है कि पाप का प्रतिकार पुण्य से होता है। बुराई को अगर रफा करना है, तो अच्छाई से उसको रफा करो। यही बेहतर तरीका है। लेकिन अगर यह नहीं बन रहा है तो क्रूरता से नहीं, ज्यादती से नहीं, लेकिन बचाव के लिए जितना पर्याप्त है, उतना ही सशस्त्र प्रतिकार करते हैं, तो क्षम्य है। मैं मानता हूं कि उन्होंने जो किया, वह अहिंसा की दृष्टि से किया और अपना सिद्धांत—'बुराई को भलाई से रफा करना'—कायम रखा।

इधर ईसा मसीह ने क्या कहा? 'रेजिस्ट नॉट इविल', बुराई का प्रतिकार मत करो। लेकिन दूसरी जगह शब्दों से सख्त प्रहार किया है। बाइबिल वालों ने उसे 'एट वोज', आठ शाप कहा है। मैंने उसे नाम दिया है, शापाष्टक। अगर मैं अर्ज करूं कि उससे सभ्य भाषा का प्रयोग ईसा मसीह करते तो अच्छा होता तो वह छोटे मुंह बड़ी बात होगी, बिलकुल बेजा और अहंकार की बात होगी। सोचना होगा कि जिस परिस्थिति में वे थे, उस समय जो शब्द निकले, पूर्ण व्यथित हृदय से निकले। उनकी जरूरत थी। यह नहीं कहा जा सकता कि उनके शब्द अधिक सख्त थे और उनमें हिंसा थी।

जो पिछला अनुभव आया, उससे लाभ उठाकर आगे बढ़ना चाहिए। रामचंद्र ने धनुष लिया, इसलिए कृष्ण ने यह जरूरी नहीं समझा कि धनुष लिया जाये। उन्होंने बंसी बजायी। बुद्ध ने बंसी को भी जरूरी नहीं समझा और मौन पसंद किया। हम उसका सार समझें। आज के जमाने में सत्याग्रह सौम्य से सौम्यतर और सौम्यतर से सौम्यतम होता जायेगा। गांधीजी ने कहा था कि एक भी पूर्ण सत्याग्रही हो तो कुल दुनिया को दुखमुक्त कर सकेगा। अपनी प्रतिभा से उन्हें इसका दर्शन हुआ।

बातचीत के सिलसिले में कई बार बापू प्रह्लाद को सबसे बड़ा आदर्श सत्याग्रही बताया करते थे। लेकिन मैं उनसे कहता था कि सत्याग्रही का सच्चा आदर्श तो शुकदेव हैं। प्रह्लाद को तरह-तरह के भीषण कष्ट दिये गये और उसने चुपचाप सह लिया, यह सच है। लेकिन उसने पापी का प्रतिकार किया। पापी का प्रतिकार करना भी श्रेष्ठ है, लेकिन उससे श्रेष्ठ पुण्यवान का प्रतिकार करना है; क्योंकि वह पापी के प्रतिकार से कठिन होता है। शुकदेवजी घर से निकलकर भागने लगे तो पुण्यात्मा व्यासजी उनके पीछे दौड़ने लगे। पुण्यात्मा महाज्ञानी को अनासक्ति कौन सिखा सकता है? वह काम कितना कठिन है! शुकदेवजी ने वही किया। पापी का प्रतिकार करना भी श्रेष्ठ है, लेकिन उससे श्रेष्ठ पुण्यवान का प्रतिकार करना है; क्योंकि वह

पापी के प्रतिकार से कठिन होता है। शुकदेवजी घर से निकलकर भागने लगे तो पुण्यात्मा व्यासजी उनके पीछे दौड़ने लगे। पुण्यात्मा महाज्ञानी को अनासक्ति कौन सिखा सकता है? वह काम कितना कठिन है! शुकदेवजी ने वही किया। अतः शुकदेव का सत्याग्रह सर्वश्रेष्ठ है।

सत्याग्रही के नमूने में ईसा का नाम लेना ही पड़ता है। लोगों ने उन्हें सूली पर चढ़ाया और उन्होंने भगवान से कहा कि 'हे भगवान! इन अपराधियों को क्षमा कर! उन्होंने इस तरह सत्याग्रही का परम आदर्श प्रस्तुत किया।

सत्याग्रही के इतिहासकालीन आदर्श उदाहरण के रूप में जिनका हम स्मरण करते हैं, उनमें एकनाथ आते हैं। दुर्जन शरीर पर थूकता जाये और एकनाथ बार-बार स्नान करते जायें, यह कोई कल्पित कहानी नहीं है।

ईसा, एकनाथ और गांधी अपने-अपने क्षेत्र में सत्याग्रही के नमूने थे। गांधीजी की अहिंसा या सत्याग्रह की यही विशेषता कही जायेगी कि उन्होंने इस कल्पना का सामूहिक प्रयोग किया। एकनाथ आदि का प्रयोग व्यक्तिगत था। यह भेद सही है, लेकिन वह भी अधिकतर परिस्थिति के कारण हुआ है। फिर, विज्ञान की यही पद्धति है कि विश्व-व्यापक विशिष्ट शक्तियों का प्रयोग पहले व्यक्तिगत क्षेत्र में हो, और वहां कसौटी में खरा उतरने के बाद उन्हें सामुदायिक किया जाये। वैज्ञानिकों के सारे प्रयोग पहले तो प्रयोगशाला में होते हैं। वहां के अनुभवों के आधार पर ही वे दुनिया में आते हैं। व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयोग में तत्त्वतः कोई अंतर मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्यापक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करने की कल्पना पुराने जमाने में लोगों को उतनी नहीं आ सकी, जितनी आज के। विज्ञान के अभाव में तब जीवन इतना निकट नहीं आया था, जितना आज आया है। सरकार भी तब उतनी विकसित नहीं थी, जितनी आज है। और न सरकार में उतनी शक्ति थी, जितनी आज है। इसलिए पुराने जमाने में आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग व्यक्तिगत और कुछ कौटुम्बिक क्षेत्र में ही सीमित रहा। वहां सिद्ध होने पर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी ने उसका प्रयोग किया।

गांधीजी को भारत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का लाभ मिला और भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन्होंने अहिंसा का शस्त्र दिया। यहां जो अध्यात्म-संशोधन हुआ था, वह यदि न हुआ होता तो समाज गांधीजी की बात सुनने को तैयार न होता। इतिहास में तो ऐसा कोई उदाहरण नहीं था कि अहिंसा से कोई सल्तनत नष्ट हुई हो। यहां की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के कारण ही लोगों ने अहिंसा के विचार को स्वीकार किया। गांधी-विचार का बीज रोपने के लिए इस देश की आध्यात्मिक मनोभूमि तैयार थी। इस देश के वातावरण में जो आध्यात्मिक भावना है, प्राणीमात्र के लिए जो दयाभाव है, सब जीवों में आत्मा के अस्तित्व की मान्यता है, उसी कारण गांधीजी का प्रयोग इस देश में सफल हो सका।

गांधीजी ने हमें एक नया रास्ता बताया, सत्याग्रह का। सत्याग्रह में बड़ी भारी शक्ति है। उससे अशांति भी नहीं रहेगी और झगड़े भी न होंगे। हम शांति भी चाहते हैं और क्रांति भी। जब हम शांति चाहते हैं तो हमें यह सिद्ध करना होगा कि शांति में कोई ऐसी ताकत है, जिससे समाज का ढांचा बदला जा सकता है—धीरे-धीरे नहीं, पर क्रांति के तौर पर। अगर यह सिद्ध हो जाये तो क्रांतिवाद के साथ हिंसा अनिवार्य न होगी और समाज बच जायेगा। इसे हम शांतिमय क्रांतिवाद, अर्थात सत्याग्रह कहते हैं।

गांधीजी ने हमें अनेक प्रकार का शिक्षण दिया है, लेकिन सत्याग्रह का शिक्षण ही शायद सबमें शिरोमणि कहा जायेगा। सत्याग्रह का अर्थ तो बहुत व्यापक है। सारी जीवनचर्या में सत्य की निष्ठा रखना ही सत्याग्रह है। बापू कहते थे कि ''सत्याग्रह का छोटा-सा अंश ही मुझे समझ में आया है। यह गहन शास्त्र है। इसमें काफी खोज होनी है।'' उनका ऐसा कहना केवल नम्रतावश नहीं है। बिलकुल सही है। हमने आज तक सत्याग्रह के जो प्रयोग किये, वे अंधेरे में टटोलने जैसे थे। कुछ प्रकाश किरण दिखीं, उनकी सहायता से हम आगे बढ़ते गये।

सत्याग्रह का प्रयोग गांधीजी ने सामूहिक रूप से पहले-पहल दक्षिण अफ्रीका में किया था। 'सत्याग्रह' शब्द का जन्म भी इसी प्रयोग से हुआ। इस शब्द के बनने के पूर्व दक्षिण अफ्रीका में यह आंदोलन 'निःशस्त्र प्रतिकार' के नाम से पहचाना जाता था। दोनों के अंतर को गांधीजी ने इस प्रकार बताया है :—

निःशस्त्र प्रतिकार में प्रेम की गुंजाइश नहीं है। सत्याग्रह में वैरभाव की गुंजाइश नहीं है। निःशस्त्र प्रतिकार बहुत बार-शस्त्र-बल की पूर्व तैयार होता है। सत्याग्रह का ऐसा उपयोग हो ही नहीं सकता। निःशस्त्र प्रतिकार सगे-संबंधियों के विरुद्ध नहीं हो सकता। सत्याग्रह प्रेमीजनों के खिलाफ भी हो सकता है। निःशस्त्र प्रतिकार में विरोधी पक्ष को दुःख देने की, सताने की कल्पना होती है। सत्याग्रह में दूसरे को दुख देने की कल्पना ही नहीं हो सकती।

गांधीजी के जमाने में जो सत्याग्रह हुए, उनको अगर हम आदर्श मानेंगे, तो गलती करेंगे। बापू ने बहुत दफा कहा था कि सत्याग्रह का शास्त्र हम लिख नहीं सकते; वह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उस शास्त्र का हमें विकास करना होगा। उसका विकास करने के बजाय हमने उस शस्त्र को गांधीजी के जमाने में जिस तरह चलाया, उससे नीचे के स्तर पर डाल दिया। बापू के जमाने में जो सत्याग्रह हुआ, उससे हम नीचे गिर गये। उसके परिणामस्वरूप आज प्रतिक्रिया हुई है और कुछ लोग बोलने लगे हैं कि लोकशाही में सत्याग्रह को स्थान नहीं है। आज अजीब बात है कि लोकशाही में लश्कर को स्थान है, लेकिन सत्याग्रह को नहीं! यह बिलकुल गलत विचार है। बहुत बड़े-बड़े लोग ऐसा विचार रखते हैं। इस हालत में हम पर यह

बड़ी जिम्मेवारी है। हमें सत्याग्रह को और उसके शास्त्र को विकसित करना होगा।

गांधीजी के जमाने में सत्याग्रह रूपी सूर्य का उदय हुआ था। वह बिलकुल फीका-सा था। अब जमाना बदल गया है। आज आजादी, मतप्रचार की सहूलियत आदि जो पृष्ठभूमि है, वह गांधीजी के जमाने में बिलकुल ही नहीं थी। इसलिए यद्यपि गांधीजी उस जमाने के सर्वोत्तम सत्याग्रही थे, तो भी उनके सत्याग्रह को ऐसी उपाधि का ग्रहण लगा था कि उसके कारण अत्यन्त प्रखर तेज भी फीका दीखने लगा।

गांधीजी ने आखिर में क्या कहा था? प्यारेलालजी के ग्रंथ में पढ़िये। उन्होंने कहा था कि स्वराज्य प्राप्ति के काम में भगवान को मेरा उपयोग कर लेना था, इसलिए भगवान ने मेरी आंख पर पट्टी बांध दी। इसलिए मैं देख नहीं सका कि हमारे सत्याग्रह दुर्बल लोगों के थे; सबलों के नहीं थे।

गांधीजी के समय में हुए सत्याग्रहों में मुझे कुछ भिन्न भास हुआ। वह मैंने उनके सामने रखा। कई बार उनके साथ मेरी चर्चाएं भी हुई हैं। कुछ समझने की आवश्यकता मालूम पड़ने पर मैं नम्रतापूर्वक उनके पास पहुंचकर बातें कर लेता था। कई सत्याग्रहों में उन्होंने अपनी गलती जाहिर की। राजकोट के सत्याग्रह और अहमदाबाद के मजदूरों के सत्याग्रह में कुछ दबाव आया, यह उन्होंने माना था। प्रभाव एक चीज है, दबाव दूसरी चीज है। सत्याग्रह का प्रभाव पड़ना चाहिए, दबाव नहीं पड़ना चाहिए।

सत्याग्रह निगेटिव नहीं, पॉजिटिव, भावात्मक है। उसमें संपूर्ण जीवन को सत्य पर खड़ा करने की बात है। फिर भी हमारे देश में उसकी एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव तो हुआ है। हम अपने को धन्य मानते हैं कि जीते-जी उसका दर्शन तो मिला।

गांधीजी ने जो किया, उसका एक बाह्यरूप ही हमने देखा। उससे आज काम नहीं चलेगा। वे तो दूसरी परिस्थिति में थे। वह सर्वथा निगेटिव काम था। फिर भी उसके साथ उन्होंने कितना रचनात्मक काम जोड़ दिया था! लोग उनसे पूछा भी करते थे कि अंग्रेजों को हटाने के लिए खादी, छुआछूत मिटाने या ग्रामोद्योग की क्या आवश्यकता है? ये तो समाज-सुधार के काम हैं। किन्तु नहीं, वास्तव में ये भी सत्याग्रह के ही अंग थे।

गांधीजी की कल्पना नकारात्मक होती तो वे उस कल्पना के साथ रचनात्मक कार्य, सेवा-कार्य नहीं जोड़ते। तब देश के सामने एक सत्याग्रही के नाते मेरा नाम पेश करने में भी कोई सार नहीं था। लोग मुझे जानते ही न थे। मेरे द्वारा कोई उल्लेखनीय राजनीतिक कार्य नहीं हुआ था। फिर भी उन्होंने मेरे जो भी गुण देखे हों, एक गुण अवश्य देखा कि इसका दिमाग रचनात्मक है, विध्वंसक नहीं। इससे स्पष्ट है कि सत्याग्रही के लिए वे रचनात्मक काम करना आवश्यक मानते थे। वे यहां तक कहते थे कि 'रचनात्मक कार्य पूरा हो जाने पर स्थूल सत्याग्रह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।' यह उनकी श्रद्धा थी। वे रचनात्मक कार्य को जो महत्त्व देते थे, उससे स्पष्ट है कि उनके मन में सत्याग्रह का कोई नकारात्मक अर्थ नहीं था।

आजकल सत्याग्रह का व्यायाम चल रहा है। जनता को यह सुनने की आदत हो जाती है कि पचास व्यक्ति जेल गये, सौ व्यक्ति गये। इस तरह यह कार्यक्रम सत्याग्रह-शक्ति को कुंठित करने का कार्यक्रम है। सत्याग्रह शक्ति व्यायाम से नहीं बढ़ती। उसके लिए सेवा, कारुण्य, आत्मशुद्धि, तपस्या आदि की जरूरत है।

'सत्याग्रह' में 'सत्य' ही महत्त्व का है, 'आग्रह' नहीं। ये दो शब्द जुड़े हैं। खैर वे जुड़े रहें। उसमें से हम अच्छा अर्थ निकालते चले जायें। मूलतः 'सत्य' पावन ही है, और 'आग्रह' दूषित ही है। 'आग्रह' शब्द का अर्थ संस्कृत में बहुत ऊंचा नहीं होता। तेलुगु में 'आग्रह' यानी 'क्रोध'। लेकिन अब वह शब्द पावन हो गया है, उसके प्रयोग से।

सत्याग्रह यानी सत्य को ग्रहण करना। सत्य को ग्रहण करना सीखोगे, तभी सत्य हाथ में आयेगा। सत्य को ग्रहण करने के लिए मुक्त मन भी चाहिए। आज इस चीज की बहुत जरूरत है। मुक्त मन आज नहीं है। वह बंटा है राष्ट्रों में, भाषाओं में, धार्मिक पंथों में, सियासत में। मन बंधा है। बद्ध मन से मुक्त चिन्तन नहीं हो सकता।

सत्याग्रही वह होगा, जो सत्य का दावा तो छोड़ेगा नहीं, लेकिन सामने वाले के पास सत्य है ही नहीं, ऐसा भी नहीं मानेगा। बल्कि वह मानेगा कि उसके पास भी सत्य हो सकता है। एक अंश मेरे पास है, जिसे मैं नहीं छोड़ूंगा, लेकिन दूसरा अंश उसके पास भी हो सकता है, और वह अंश कम-ज्यादा हो सकता है। उसकी चर्चा तटस्थ बुद्धि से हो सकती है।

सामने वाले के पास भी सत्य का अंश है। सब-का-सब सत्य हमारे पास है, ऐसा नहीं। उसके सत्य के अंश को तुम ग्रहण करो, ताकि तुम्हारे सत्य के अंश को वह ग्रहण करेगा। कठोपनिषद में 'सत्याग्रही' के अर्थ में शब्द आया है 'सत्यधृतिः' यानी सत्य पर अड़ा हुआ।

'सत्याग्रही' बनने के पहले हमको 'सत्याग्रही' बनना चाहिए। सत्यग्रही बने बगैर सत्याग्रही नहीं बन सकते। अपने पक्ष में सत्य है, यह मान चलें, लेकिन सामने वाले पक्ष में भी कोई सत्य है, उसका ग्रहण किये बिना हृदय-प्रवेश नहीं हो सकता। सामने वाले के सत्यांश को फौरन ग्रहण करना चाहिए तो असत्य अपने-आप गल जायेगा।

यह 'सत्यग्राही' शब्द मुझे बंगाल और उड़ीसा के भक्ति-साहित्य में चलने वाले 'भावग्राही' शब्द से सूझा। उसमें कहा गया है कि भगवान भावग्राही होते हैं, भाव को ग्रहण करते हैं। मैं शब्द की खोज में था तो मुझे यह नया 'सत्यग्राही' शब्द सूझा। इसमें अपने सत्य के साथ चिपके रहने और सामने के पास जो सत्य है, उसको ग्रहण करने की तैयारी रखने की जो बात है, वह मन के ऊपर उठे बगैर संभव नहीं है।

ऋग्वेद में युद्ध के लिए कई शब्द

आये हैं। उनमें एक शब्द है—मम सत्यम्। यास्काचार्य ने कहा है—मम सत्यं युद्धम्। यानी 'मम सत्य' ही युद्ध है। सत्य मेरा ही है, सामने वाले का उस पर कोई हक नहीं है, इस तरह जब आप मानते हैं, तो लड़ाई के सिवा बात नहीं रह जाती। फिर उस लड़ाई को आप निःशस्त्र लड़ाई का रूप दें, तो भी उससे सत्याग्रह नहीं बनेगा।

सत्याग्रह के मानी यही है कि सामने वाले के प्रति प्रेम होना चाहिए। उससे द्वेष करना गलत है। अगर चित्त में द्वेष है तो शस्त्र से लड़ना बेहतर है। इसलिए पहले यह जरूरी है कि हम अपने चित्त से द्वेष हटाएं। तभी हमारे सत्याग्रह में बल आयेगा। इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि 'सत्याग्रह' मध्यमपदलोपी समास है। 'सत्याग्रह' यानी सत्य के लिए प्रेम द्वारा आग्रह। अगर हम सत्य और प्रेम, दोनों को इकट्ठा करेंगे तो समाज आगे बढ़ेगा, उत्पादन भी बढ़ेगा और समस्या भी हल होगी।

कोई कभी सुधर ही नहीं सकता, ऐसा किसी के बारे में न सोचें। इस प्रकार की सद्भावना, विश्व की तरफ देखने की शुभमंगल दृष्टि, यही सर्वोदय की मूल शक्ति है। सत्याग्रह उसी में से निकलता है।

अहिंसा की शक्ति तब प्रकट होती है, जब सामने वाले के, दोषी माने जाने वाले के लिए हमारे मन में कुछ प्रेम हो और हमारा कदम उसकी उन्नति के लिए भी जरूरी समझकर उठाया गया हो। उसमें हमारा तो भला है ही, पर उसकाव भी भला है, ऐसी जहां भावना हो वहीं अहिंसा की ताकत प्रकट होती है, जिससे सामने वाले का कुछ परिवर्तन होता है, या होना संभव दीखता है। किन्तु अगर हम साक्षात लड़ाई के बदले बहिष्कार करें तो उससे शांति की शक्ति प्रकट नहीं होगी।

लोगों में इस समय सत्याग्रह का बिलकुल ही गलत अर्थ रूढ़ हो गया है। यह भी एक धमकी बन गयी है। कहीं सत्याग्रह होने की बात सुनते हैं तो मनुष्यों के मन में अनुकूल भावना होने के बजाय प्रतिकूल भावना पैदा होती है। सत्याग्रह को दबाव डालने की बात माना जाता है। सब प्रकार के दबावों से दबे समाज को उन दबावों से मुक्त करना ही सत्याग्रह है। मनुष्य के हृदय पर अनेक प्रकार के दबाव हैं। इसलिए उसकी बुद्धि विचार के लिए आजाद नहीं रही है। अनेक परिस्थितियों के कारण बुद्धि पर आये हुए दबावों को हटाने की प्रक्रिया का नाम 'सत्याग्रह' है।

जो अपने को देह से भिन्न देखता है, वह दूसरों को भी देह से भिन्न देख सकता है। इसलिए वह किसी से दबता नहीं, न किसी को दबाता ही है। किसी से डरता नहीं और न किसी को डराता ही है। शरीर से अपने आपको अलग पहचानना ही आत्मज्ञान है, और यही है सत्याग्रह की शक्ति का अधिष्ठान। आत्मज्ञान के बिना सत्यनिष्ठा संभव ही नहीं। सत्य के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं, मरने तक खटना पड़ता है। यह सारी निर्भयता आत्मज्ञान पर ही खड़ी हो सकती है।

सत्याग्रह का अर्थ है, हमारा निज का अनाग्रह। सत्य को ही हम आग्रह करने दें। हम बीच में न आयें। होता यह है कि सत्य के नाम से हमारा ही आग्रह सामने आता है इसलिए सत्य को ही अपना आग्रह करने के लिए छोड़ दिया जाये तो उसके सामने असत्य टिक नहीं सकता। बीच में हमारा आग्रह आता है तो सत्य छिप जाता है। इससे सत्याग्रह-शक्ति कुंठित होती है।

सत्याग्रह का तत्त्व मानने वाले का विश्वास होना चाहिए कि अगर हम सत्य का आग्रह रखते हैं और सत्य का आचरण करते हैं, तो उसका असर हुए बगैर नहीं रहेगा। हम अपने जीवन में सत्य पर ही भरोसा रखें, परमेश्वर पर भरोसा रखें और अंत में सत्य की ही विजय होने वाली है, ऐसा विश्वास रखकर काम करें। उत्तम वस्तु का निरंतर चिन्तन-मनन करना, छोटी-छोटी बातों को नाहक महत्त्व न देना, तटस्थ वृत्ति से अगर कुछ सूझा तो कह कर फौरन निराग्रही बनना, ये सब सत्याग्रही के लक्षण हैं।

लोग समझते हैं कि सत्याग्रह यानी केवल धरना देना। लेकिन यह ख्याल गलत है। सम्यक् आचरण से, सम्यक् वाणी से और सम्यक् विचार से लोगों के दिलों और दिमागों को समझना, यही सत्याग्रह है। विचार शक्ति पर जिसका विश्वास नहीं है, वह सत्याग्रही नहीं। सत्य के प्रकाश के सामने असत्य का तिमिर टिक नहीं सकता। यह है सत्याग्रह की शक्ति।

हमारी अंतिम श्रद्धा अगर किसी चीज पर हो सकती है, तो वह हमारी समझाने की शक्ति पर ही। समझाने की कोई मर्यादा या सीमा नहीं होती। इसलिए, जिसे आप 'सत्याग्रह' कहते हैं, वह उसी हद तक संभव है, जिस हद तक उसका समझाने का स्वरूप बना हुआ है। दबाव का स्वरूप आने पर तो वह सत्याग्रह नहीं रह जाता।

क्षमा करना यानी सहन करना। पृथ्वी के जैसे हमें सहन करना है। इतना ही नहीं, बल्कि जो प्रहार करता है, उसे भी हमारी तरफ से कुछ भलाई का प्रसाद देना है। इस तरह क्षमा का प्रयोग होता है, तो वह एक सूक्ष्मतम और सौम्यतम सत्याग्रह का रूप होता है। प्रेम की शक्ति तब बनती है, जब प्रेम क्षमा के रूप में आता है।

अपना सारा जीवन सत्याग्रह-निष्ठा पर खड़ा करना, कितनी भी मुसीबतें आयें तो भी जिसे हम सत्य समझें, उस पर डटे रहना सत्याग्रह है। बल्कि इसके लिए हम कष्ट सह रहे हैं, ऐसा भान भी हमें कभी नहीं होना चाहिए। जो सत्य पर अमल करता है, उसे उस कोशिश में ही आनंद का अनुभव होता है। उससे भिन्न कोई अनुभव उसे होता ही नहीं और न बीच के कष्टों का भान ही होता है। तीर्थयात्रा को जाते हैं तो बीच में चढ़ाव आने पर पांव को तकलीफ होती है और उतार आने पर आसानी होती है। लेकिन यात्री उस उतार-चढ़ाव पर ध्यान नहीं देता। उसका सारा ध्यान उसी स्थान पर केन्द्रित रहता है,

जहां उसे जाना है। वैसे ही अपने जीवन में सत्यनिष्ठा रखने वाले को तदर्थ कष्ट सहने पड़ते हैं तो भी उसे कुछ तकलीफ का अनुभव नहीं होता।

निष्पक्ष लोक-सेवकों की जमात का एक काम है समाज-जीवन में या सरकारी कामों में जहां कहीं गलती देखें, वहां उसका निर्देश करना। कभी-कभी उन दोषों के लिए क्रियात्मक प्रतिकार का मौका भी आ सकता है। वह इतना सहज होगा कि जिनके विरोध में वह होगा, उन्हें भी वह प्रिय लगेगा, क्योंकि वह उनकी सेवा के लिए ही होगा। उसे 'प्रतिकार' का नाम देने की बजाय 'शल्यक्रिया' कहना ही ठीक रहेगा, क्योंकि 'शल्यक्रिया' जिस पर होती है, उसे भी वह प्रिय होती है। उसे 'सत्याग्रह' भी कह सकते हैं।

सत्याग्रह यानी सातत्य। जो थोड़ी देर के लिए चलता है, वह सत्याग्रह नहीं। सत्याग्रह तो निरंतर चलता है। हमें समझना चाहिए कि सत्याग्रह एक नैमित्तिक वस्तु नहीं, नित्य वस्तु है। इसलिए वह प्रतिक्षण चलना चाहिए। सत्याग्रह जीवन की निष्ठा है। हमारा नित्य का जीवन ही सत्याग्रह का हो।

सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है। लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय विश्वात्मभाव को नहीं भूलना चाहिए। सामने वाला भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत् बना रहना चाहिएं अपने हाथ में लगे कांटे को जिस तरह संभालकर और हल्के हाथ से मैं निकालता हूं, उसी सावधानी और चिन्ता से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का मैं प्रयत्न करूंगा। यह ध्यान में रखें कि यह कार्य ऊपर से दूसरे को सुधारने का भले ही दिखायी दे, वस्तुतः तो यह अपने खुद को सुधारने का ही कार्य है। क्रोध न करें। जहां अशुभ दिखायी देता है, वहां शुभ भी है। उस शुभ को देखें। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय में प्रवेश करें। तब अशुभ का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेंगे।

पतंजलि कहते हैं कि पूर्ण अहिंसा में सहज ही वैर-त्याग होता है। एकनाथ कहते हैं कि परिपूर्ण भगवद्भावना के आगे दुर्जनता दीखती ही नहीं। गांधीजी कहते हैं कि सत्याग्रह-शस्त्र को पराजय का पता ही नहीं रहता। इन सबका अर्थ एक ही है।

सत्याग्रह में अहिंसा का महत्त्व स्पष्ट ही है, क्योंकि बहुत दफा आमने-सामने खड़े दोनों विरोधी पक्ष सत्य के नाम से ही लड़ते हैं। दोनों का सत्य का दावा होता है। 'हे भगवान, हमारे शत्रु का नाश करो' ऐसी ईश्वर के पास आर्तभाव से प्रार्थना करने वाले दयालु ईसाई पिछले दोनों महायुद्धों में जगह-जगह देखने को मिले थे! इसलिए सत्यपक्ष कौन-सा है, यही देखना लाभदायक है। सत्याग्रह और असहयोग की ताकत द्वेष से घटती है। द्वेषयुक्त असहयोग तो गीली बारूद है। कारगर बारूद तो प्रेम ही है। जितना प्रेम, उतना ही सत्याग्रह का हक। जिस चीज से द्वेष पैदा होता है, उसमें सत्याग्रह है ही नहीं। प्रेमशक्ति सामान्यतया सहयोग के रूप में और विशेष प्रसंगों में असहयोग के रूप में प्रकट होती है।

हमें खूब ध्यान में रखना होगा कि हिंसक युद्ध की परिभाषा और हमारी इस भाषा में अर्थ की दृष्टि से बहुत अंतर है। जैसे भागवत में शुद्ध भक्ति को शृंगार की भाषा लागू की है। भगवान और भक्त को पति-पत्नी की उपमा दी है। सकाम प्रेम की भाषा हमने निष्काम प्रेम पर लागू की। उससे अनर्थ भी हुए और इस भाषा के परिणामस्वरूप विलासिता बढ़ी। अहिंसा के प्रचार में युद्ध की परिभाषा लागू करने से अनर्थ होने की आशंका है। इसलिए इन दोनों परिभाषाओं के बीच जो अंतर है, उसे अपनी विचार शुद्धि के लिए समझ लेना बहुत जरूरी है।

हिंसक युद्ध का उद्देश्य होता है शत्रु को तकलीफ देना, उसे मजबूर करना; ताकि थककर, हारकर, त्रस्त होकर वह पराजय स्वीकार करे। हमारा ऐसा कोई उद्देश्य नहीं है। हम शत्रु को अपमानित भी करना नहीं चाहते। हम हमारी कृति से शत्रु के हृदय में प्रवेश करना चाहते हैं। बल्कि 'शत्रु' शब्द का प्रयोग ही वास्तव में गलत है।

कुछ लोग कहते हैं कि सत्याग्रह लड़ाई का पर्याय है। लड़ाई के बदले किया जाता है। इसलिए वह एक किस्म की लड़ाई ही है। किन्तु वास्तव में सत्याग्रह का स्वरूप लड़ाई से बिलकुल ही विपरीत है। लड़ाई में एक पक्ष की विजय होती है, तो सत्याग्रह में दोनों पक्षों की। लड़ाई में एक दूसरे के मन मिलते नहीं, तो सत्याग्रह में मिलते हैं। जहां सत्याग्रह में बुद्धि के ऊपर का पर्दा हट जाता है और वह विचार करने के लिए मुक्त हो जाती है, वहीं लड़ाई में बुद्धि कुंठित हो जाती है। आखिर सत्याग्रह तो तब सफल होता है, जब सामने वाले का मन विचार करने के लिए तैयार हो। मेरी कोई कृति, युक्ति, विचार या संकल्प के कारण तुम्हारी बुद्धि विचार करने लग जाये, तो मेरा सत्याग्रह सफल हुआ समझा जाये। अहिंसक युद्ध ज्यादा जोरों से चलाने का मतलब साधनों की शुद्धता बढ़ाना और अधिक आत्मशुद्धि करना है।

'किसी के विरुद्ध सत्याग्रह करना', ऐसी परिभाषा आजकल रूढ़ हो गयी है। परंतु वह एक भाषा ही है। सत्याग्रह में 'विरुद्ध' जैसा कुछ नहीं है। सही माने में तो किसी के विरुद्ध नहीं, बल्कि किसी के आगे, किस के साथ सत्याग्रह, ऐसा कहना ठीक होगा। सत्याग्रह किसी के विरुद्ध नहीं, किसी के सामने होता है। जैसे आमने-सामने बैठकर बातें होती हैं, वैसा यह है। सत्याग्रह में मुख्य बात सामने वाले मनुष्य का विचार बदलने की है। स्वयं शुद्ध विचार करना, सामने वाले को उसे ठीक समझाकर उसके गले उतारना, उसके साथ विचार-विनिमय करते समय यदि खुद के विचार में कुछ दोष दीख पड़े, तो उसका शोधन करना, यही सही सत्याग्रह का स्वरूप है।

सामने वाला काल्पनिक स्वार्थ के कारण, अथवा क्रोध-मोहादि विकारों के वश होकर सुनने-समझने को ही तैयार न हो, ऐसा बहुत बार बनता है। इसलिए दुख-सहन→

बा-बापू : 150वीं जयंती पर विशेष
11 अप्रैल : कस्तूरबा जयंती : नमन्

'बा'

गांधी का अन्तर्द्वन्द्व

❑ गिरिराज किशोर

गांधीजी को लेकर एक बड़ा और चर्चित उपन्यास प्रस्तुत कर चुके श्री गिरिराज किशोर ने अब बा पर कलम उठायी है। बा पर कुछ भी लिखना बहुत कठिन था। नहीं के बराबर जानकारियां। 'पहला गिरमिटिया' की सामग्री जुटाने में उन्हें कोई दो हजार पुस्तकों से मदद मिली थी। और 'बा' उपन्यास लिखते समय मुश्किल से दो पुस्तकें सामने थीं। वे उन सब लोगों से मिले, जिन्हें कस्तूरबा के बारे में थोड़ी-सी भी जानकारी थी और उन जगहों पर गये, जहां बा ने थोड़ा या बहुत समय बिताया था। इस तरह बनी यह कथा, यह इतिहास बा के अलावा खुद बापू के दो और रूपों को भी सामने रखता है–पति और पिता का रूप। प्रस्तुत है 'बा' का एक अंश, जो बा-बापू : 150 के अवसर पर क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं।–संपा.



मि. गांधी इस बीच असहज रहने लगे थे। उन्हें लगने लगा था यह सुख-सुविधापूर्ण जीवन असुविधापूर्ण होता जा रहा है। जोहान्सबर्ग आने के चार महीने बाद से ही मिली यह महसूस कर रही थी कि वे पहले की तरह सहज नहीं हैं। एक दिन मिली ने कस्तूरबा से पूछा तो वह बोली, 'मैं इसकी आदी हूं। हम खानाबदोश की तरह कई शहर और घर बदल चुके हैं। विस्थापन का कोई न कोई बहाना मिल ही जाता है।' फिर हंसकर बोली, 'चलते रहने और नये-नये रास्ते बदलना बापू की आदत है।' यह सब कहते हुए कस्तूरबा के चेहरे पर न गुस्सा था न दुःख था।

मि. गांधी ने एक दिन कस्तूरबा से स्वयं कहा कि वे सामान्य आदमी की तरह जीना चाहते हैं। फीनिक्स जाकर अपने सेटिलमेंट की देखभाल करेंगे। बच्चे और कस्तूरबा चुप रहे। वे जानते थे कि बापू जो तय कर लेते हैं वही करते हैं। तय करके ही मुंह से निकालते हैं। हुआ भी यही कि जोहान्सबर्ग का मकान छोड़ दिया। कुछ सामान बेच दिया गया और कुछ फीनिक्स भेज दिया गया। हेनरी मकान खाली करने के लिए हफ्ते भर को वहीं रुक गया था।

मिली की प्रतिक्रिया फीनिक्स जाकर बहुत निराशाजनक थी। मन ही मन सोचा, कहां आ गये। शहरी जीवन से लाकर ऐसी जगह पटक दिया गया था जहां घरेलू और इनसानी सुविधाएं आदिकालीन और अमानवीय स्तर की थीं। कस्तूरबा और बच्चों के मन में भी यही बात उठ रही थी। सबके चेहरे उतरे हुए थे। रात-भर मिली और कस्तूरबा बड़बड़ाते रहे थे। दरअसल सब बहुत थके हुए थे। दो दिन और दो रात रेल की यात्रा ने बुरी तरह थका दिया था। यही नहीं स्टेशन से फीनिक्स तक, टूटी-फूटी सड़कों पर, टैम्पों में हचकोले खाते पहुंचे थे। सांपों का डर अलग खाये जा रहा था। यहां सांप और जंगल डर का पर्याय माने जाते थे। वहां पहुंचते ही सब कमेरों की तरह काम में लग गये थे। खाने के बाद बिस्तर बिछाए, फिर रात के लिए और जरूरी इन्तजाम किये। नींद आने का तो सवाल ही नहीं था। किसी तरह बच्चों को सुलाया था।

सबेरे चार बजे ही धुंधलका होने लगा था। मि. गांधी सीढ़ियों से उतरे। जिस कमरे में मिली और कस्तूरबा थे उसके सामने चक्कर लगाने लगे। जब उन्हें निश्चय हो गया कि वे दोनों अधजगे हैं। उन्होंने अंदर आकर पूछा, 'आप लोग क्या चाहते हैं?' उनकी आवाज में चिन्ता का पुट था। वे पिछली रात

→आदि अहिंसा के प्रयोग को, अथवा तपस्या को बीच के काल में अवकाश मिलता है। परंतु उसके कारण, या उसके बिना भी, वह यदि विचार सुनने की मनःस्थिति में आ गया, तो उसके बाद का काम विचार का ही है। इसीलिए विचार पर खुद अमल करके विचार सतत सुनाते रहना और दूसरे के विचार समझने के लिए खुद सदा तैयार रहना, यही सत्याग्रह का मुख्य स्वरूप है। आदि में विचार, अंत में विचार, और मध्य में विचार, यह सत्याग्रह का नित्यधर्म है।

सत्याग्रह पानी में पड़ी अग्नि है। एव अग्निः सलिले सन्निविष्टः—यह है सत्याग्रह का स्वरूप। पानी में प्रविष्ट है, पर है अग्नि। यह पानी के भीतर है। इसलिए जला नहीं सकती। पानी को सिर्फ गरम कर सकती है। पानी चाहे कितना ही गरम हो जाये, वह घर को जला नहीं सकता। ❑

के व्यवहार से परेशान थे। कस्तूरबा ने गुजराती में कुछ कहा। मिली कुछ समझ नहीं पायी। मि. गांधी ने शान्त रहने की प्रार्थना की और समझाया, यहां हम उपलब्ध स्थानीय वस्तुओं का बेहतर उपयोग करेंगे तो मुश्किलें आसान हो जायेंगी। जो जरूरत की चीजें होंगी वे बाजार से आ जायेंगी। उनका मतलब था फीनिक्स का जीवन जोहान्सबर्ग जैसा न होकर सामान्य होगा।

फीनिक्स लौटने के बाद गांधी के सामने ब्रिटिश और जुलू के बीच लड़ाई में सहयोग देकर भारतीयों की साख बचाने की चुनौती थी। गांधी ने सरकार के पास लड़ाई में स्ट्रेचर बीयरर कम्पनी द्वारा सहायता करने का प्रस्ताव भेजा। वह पुरानी साख के आधार पर मंजूर कर लिया गया। गांधी बीयरर कम्पनी को लेकर लड़ाई के मैदान में चले गये। कस्तूरबा उन सबकी सुरक्षा के लिए चिन्तित थी। किसी ने उसे समझाया नहीं था कि स्ट्रेचर बीयरर कम्पनी का क्या काम था। वह समझ रही थी उन्हें भी सिपाहियों की तरह लड़ना होगा। इत्तफाक से लड़ाई जल्दी समाप्त हो गयी और गांधी और उनकी कम्पनी मैदान से सही-सलामत लौट आये। दरअसल यह लड़ाई इकतरफा थी। जुलू एक तरह निहत्थे थे। इस बीच पोलक भी फीनिक्स आ गया था। इधर वे लौटे, उधर ट्रांसवाल से भारतीय समुदाय का बुलावा आ गया, गांधी वहां चले गये। जाते समय मिली और पोलक से कह गये कि वे दोनों दो सप्ताह में वहां पहुंच जायें। कस्तूरबा और बच्चे फीनिक्स में छूट गये।

गुरबत का जीवन

1906 में मोहनदास दक्षिण अफ्रीका के बड़े वकीलों में शुमार होने लगे थे। खूब प्रेक्टिस चल निकली थी। वे नेटाल और ट्रांसवाल में अकेले भारतीय मूल के वकील थे। उनकी ईमानदारी और समझदारी पर अब कोई दाग-धब्बा नहीं था। यही सबसे बड़ा गुण था। गोरे वकील पैसा भी मारमुलक्का लेते थे। हालांकि कुली कहलाने का दंश सहते थे पर गांधी को अपने कार्य क्षेत्र में संतोष था। एक गहरा असंतोष भी था, वे अपना समय भौतिक उपलब्धियों पर व्यर्थ नष्ट कर रहे थे। अपने को और परिवार को धोखा दे रहे थे। गीता की अपरिग्रह की शिक्षा और रस्किन के श्रम के प्रति सम्मान के संदेश के समान, वह कुछ नहीं था। सबसे बड़ी चुनौती थी, वे कस्तूरबा और बच्चों को आत्मनिर्भरता और न्यूनता में गुजारा करना कैसे सिखायें? उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी कि उनका परिवार जल्दी से जल्दी फीनिक्स आश्रम में ही रहे और आत्मनिर्भरता के उनके प्रयोग का हिस्सा बन जाये। जो चक्की वे और पोलक रोज चलाते थे उनकी अनुपस्थिति में उसे चलाने का भार औरतों और बच्चों पर आ जाता था। मणिलाल, रामदास और देवदास को चक्की चलाने में मजा आता था। कस्तूर को स्वास्थ्य के आधार पर छूट मिली हुई थी। वह बिना छने आटे की स्वादिष्ट रोटी बनाती थी। बचतमी थी मिली, उसे बच्चों के साथ हर काम करना अच्छा लगता था।

कस्तूरबा को पति और बच्चों का औरताना काम करना अच्छा नहीं लगता था। उसे लगता था कि औरतों के रहते मर्दों द्वारा घरेलू काम किया जाना परंपरा के विरुद्ध है। गांधी इस भेदभाव के विरुद्ध थे, उनका मानना था घर के हर सदस्य को घर का कोई भी काम करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। मिली और हेनरी भी उनके साथ थे। गांधी ने घर में काम करने वाले गृह-सहायकों को विदा कर दिया था। कस्तूरबा के ऊपर काम का दबाव बढ़ गया था। लेकिन वह जानती थी कि उन्हें समझाना कठिन है।

कस्तूरबा के सामने सबसे बड़ी परेशान करने वाली समस्या बच्चों की शिक्षा थी, जो लौट-लौटकर आती थी। वह क्या करे? औरत का काम तो बिना पड़े भी मर्दों के सहारे चल जाता है पर आदमियों को तो अपना काम अपने सहारे चलाना पड़ता है। जो नहीं पढ़ पाते वे यहां गिरमिटिया हैं और वहां अपने देश में मजूरे बने मारे-मारे फिरते हैं। सोचकर मन भर आता था। मोहनदास जन-कार्यों में इतने गंजे रहते हैं कि बच्चों को पढ़ाने का समय कम निकाल पाते हें। मास्टर के सामने बंधकर बैठे बिना पढ़ाई नहीं होती। जब उनसे यह कभी कहो तो कह देते थे, बच्चे घर में रहकर अच्छा जीवन और संस्कार पा रहे हैं। सवाल उठता है, दुनिया बच्चों को स्कूल पढ़ने क्यों भेजती है? जब मोहनदास कहते थे, हमारे बच्चे दुभाषिये हो जायेंगे, न अपनी भाषा अच्छी तरह जान पायेंगे और न अंग्रेजी...तो क्या स्कूलों में अंग्रेजी ही पढ़ाई जाती है और कुछ नहीं? ये सब सवाल उसके मन में ही रह जाते थे। वह यह सोचकर चुप हो जाती थी, मौका मिलने पर बैरिस्टर साहब से ही पूछेगी।

घर में हर तरह की शांति और समता के बावजूद कस्तूरबा को लगता था कहीं कुछ छूट रहा है। संकेत मिल रहे थे पर समझ नहीं आ रहा था। मोहनदास ऊपर से शांत थे, अंदर से उद्वेलित और अशांत थे। कारण पता नहीं चल रहा था, क्यों हैं? कस्तूरबा की बेचैनी बढ़ रही थी।

वास्तव में वकील के रूप में मोहनदास सफल हो गये थे पर सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में वहां नहीं पहुंच पा रहे थे जहां वे चाहते थे। अन्यायपूर्ण और दमनात्मक कानूनों को बदलवाने के संदर्भ में उनके अथक परिश्रम, इंडियन ओपिनियन के संपादकियों और भाषणों का कहीं कोई असर नहीं था। सरकार कुछ करने के लिए तैयार नहीं थी। उसके लिए वे अपने को दोषी ठहराते थे। उनके विचार में वह सब जो उन्होंने किया था नाकाफी था और भी ज्यादा जुटकर करना चाहिए था। समस्याओं में और गहरे उतरना चाहिए था। कठिन निर्णय लेने चाहिए थे।

जब पति ने स्वेच्छा से गरीबी को जीवन का आदर्श बनाने का निर्णय लिया था तो कस्तूरबा को आश्चर्य नहीं हुआ था। वे

अपने आप से सवाल करते रहते थे, क्या मुझे जनसेवा के हित में, कमाये हुए धन से, अपने आपको अलग नहीं कर लेना चाहिए? ऐसा करके क्या मन की दुविधा से मुक्त हो सकूंगा? कस्तूरबा पति का, स्वेच्छा से सुख-सुविधापूर्ण जीवन त्यागकर मितव्ययी जीवन-दर्शन अपनाये जाने का संकेत समझ रही थी। एक तरह से उसने भी उसे बिना प्रतिवाद के स्वीकार किया था। दरअसल पिछली बार वह उपहारों के संदर्भ में प्रतिवाद करके देख चुकी थी। कस्तूरबा की उलझन को देखकर मोहनदास ने स्वयं ही स्पष्टीकरण दिया था, 'गरीबी के जीवन का मतलब यह नहीं कि कमाना बंद कर दूंगा। वास्तव में हम सम्पत्ति के स्वामित्व का त्याग कर रहे हैं। अपने सुख के लिए धन संग्रह नहीं करेंगे। आवश्यकता से अधिक पैसा दूसरों के हितों का अतिक्रमण है। उससे अधिक कमाया पैसा समाज का होगा।' कस्तूरबा को आवश्यकता अनुसार धन कमाने की बात से संतोष हुआ। वे पूरी तरह बाबा बन जाते तो क्या कर सकती थी। ऐसे लोगों को धन से ज्यादा धुन प्रिय होती है।

कस्तूरबा एक बात से बहुत आहत हुई थी। मोहनदास ने अपने उस पितृतुल्य भाई को लिख दिया था, जिसने अपनी सीमित आय में से उनकी हर जरूरत पूरी की थी, कि आप दक्षिण अफ्रीका से किसी तरह की आर्थिक सहायता की आशा न करें। जब कस्तूरबा ने पूछा कि आपके कारण उन पर जो कर्ज चढ़ा है उसे कौन उतारेगा? उन्होंने सहज भाव से जवाब दिया, वह निबट गया। कस्तूरबा जानती थी कि लक्ष्मीदास एक जिम्मेदार, शांत और जागरूक व्यक्ति हैं। दीवान साहब के न रहने के बाद परिवार के हर सदस्य के प्रति अपनी जिम्मेदारी हमेशा निबाही थी। जब पिता के न रहने पर बड़े भाई सबकी देखभाल का दायित्व निभाता है तो क्या बड़े भाई की कठिनाई में, समर्थ होते हुए भी, छोटे भाई को पीछे हट जाना चाहिए? मोहनदास छोटे थे। ❑

6 अप्रैल : दांडी सत्याग्रह पर विशेष

एक मुट्ठी नमक

❑ **रामबृक्ष बेनीपुरी**



स्वराज्य की लड़ाई नमक से। यह समझने की बात न थी, लेकिन देश लड़ाई चाहता था और सेनापति की आज्ञा यही थी।

मुझे याद है, मैं आचार्य कृपलानी को लेकर पटना सिटी की एक सभा में जा रहा था, कि उनसे पूछ बैठा—'दादा, यह कैसे होगा? नमक बनाकर हम स्वराज्य कैसे लेंगे?' उन्होंने कहा—'मैं भी नहीं जानता। इतना ही कह सकता हूं, जो बुड्ढा कहता है, करते जाओ, कुछ चीज जरूर निकल आयेगी : यह मेरा विश्वास है।'

और हम अविश्वास रखकर भी क्या करते? न हम बम फेंक सकते थे, न चर्खा चला सकते। साथ ही, कुछ करना भी चाहते थे। देश में जो गर्मी फैल रही थी, उससे हमारी नस-नस कसमस कर रही थी। अंग्रेजों से हम लड़ें—यही कामना थी। नमक कानून को तोड़ने से ही वह लड़ाई छिड़ सकती हो तो वही सही।

पटना में ऐसे युवकों का अच्छा-खासा गिरोह बन गया था, जो देश के लिए कुछ करने को आतुर थे। लेकिन पटना के नेताओं की सदा यह नीति रही कि प्रांत के बाहर जो कुछ हो, राजधानी में शांति बनी रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि पटना का नेतृत्व मुख्यतः वकीलों के हाथ में था। शैतान और भगवान दोनों को एक साथ प्रसन्न रखने की कला में वे प्रवीण थे।

किन्तु हमें वे कब तक रोके रख सकते थे। गांधीजी की डांडी यात्रा प्रारंभ हो गयी थी। बिहार के कई स्थानों में नमक-कानून तोड़ा जा रहा था। प्रतिदिन अखबारों में गिरफ्तारियों के समाचार मोटे-मोटे अक्षरों में छपा करते। हमने तय किया, हम पटना में भी कुछ करके रहेंगे। सत्याग्रहियों की भर्ती शुरू की और जब उनकी सूची कुछ लंबी हुई, तो मुझे भेजा गया कि राजेन्द्र बाबू से सत्याग्रह प्रारंभ करने की स्वीकृति ले आऊं। नियम था, प्रांत के सत्याग्रह-संचालक से स्वीकृति लेकर कहीं सत्याग्रह प्रारंभ किया जा सकता था।

उस दिन राजेन्द्र बाबू दरभंगा से मुजफ्फरपुर आ रहे थे। मुजफ्फरपुर स्टेशन पर ही उनसे भेंट हुई। देखते ही पटना का हाल पूछ बैठे। मैंने सारा किस्सा सुनाया। संयोग से पटना के एक नेता आ निकले—उन्होंने झट मुझसे कागज लेकर लिख दिया—'पटना में सत्याग्रह शुरू किया जाय।' यही नहीं उन्होंने सारे प्रांत को इजाजत दे दी कि जहां भी सत्याग्रही हों, वे पूर्ण शांति रखने की शर्त पर नमक-कानून तोड़ना प्रारंभ कर दें। मुझसे पूछने की कोई जरूरत नहीं। अब हमारे नेता उनका मुंह देख रहे थे और मैं पुलकित हो रहा था। राजेन्द्र बाबू ने पटना के नागरिकों के नाम एक अपील भी लिखकर दे दी कि चन्द्रगुप्त और शेरशाह का पटना अपने पूर्व गौरव का फिर परिचय दे।

और पटना ने उसका परिचय दिया। सत्याग्रहियों का पहला जत्था भाई अम्बिका कांत के नेतृत्व में निकला। कैसा समां, कैसा जोश, कैसा उत्साह। भोर-भोर यह जत्था बांकीपुर से पटना सिटी की ओर रवाना हुआ जहां नमक बनाना था। झंडे उड़ रहे थे, नारे

लग रहे थे। आगे-आगे जत्था, पीछे-पीछे अनगिनत लोगों की भीड़। दर्शकों में औरतों की भी काफी संख्या।

जब यह जत्था पटना कॉलेज के सामने पहुंचा, पुलिस ने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। पुलिस लाठी की दीवार बनाकर खड़ी थी। क्या किया जाय। अम्बिका ने झुककर लाठी के नीचे से निकल जाना चाहा कि एक सार्जेन्ट ने उसकी बांह पकड़ ली, बांह को मरोड़ कर पीठ पर ले गया और चट-चट कई डंडे बरसा दिये। फिर क्या था—एक कोलाहल-सा मच गया। नारे लग रहे थे, डंडे बरस रहे थे! सर फूट रहे थे। रक्त के फब्बारे फूट रहे थे। सत्याग्रहियों और दर्शकों में भी कोई भेदभाव नहीं रहा। जो कोई पुलिस के सामने आता, डंडे का प्रसाद पाता।

पहले से तय था, मैं पहले जत्थे में नहीं शामिल किया जाऊंगा। युवक के 'विप्लव अंक' को डिस्पैच कर देना था। जल्द यह काम खत्म करके मैं दूसरे जत्थे में शामिल होऊंगा। अतः मैं जत्थे से अलग-अलग जा रहा था। किन्तु अब तो दूर रहना मुश्किल हो गया। मैं उस हिन्दुस्तानी डिप्टी सुपरिटेंडेंट के पास पहुंचा, जो पुलिस का नेतृत्व कर रहा था और उससे कहा—'यह क्या तमाशा कर रहे हैं, सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करके क्यों नहीं जेल ले जाते हैं?'

जैसे उन्हें रास्ता सूझ गया। अम्बिका आदि को बस में भरकर जेल ले गये। लेकिन तब तक तो यह बात सारे शहर में आग की तरह फैल चुकी थी। लोग वहां एकत्र होने लगे और अब वहीं से सत्याग्रहियों का दूसरा जत्था रवाना हुआ, जिसका नेतृत्व मैं कर रहा था।

मैं सिर्फ तमाशा देखने आया था, और शरीर पर सिर्फ एक गंजी थी और एक चादर। इसी भेष में आगे बढ़ा। कुछ नौजवान मेरे पीछे लगे। मैं थोड़ी ही दूर गया था कि मुझे भी गिरफ्तार करके जेल में ले गये।

हम तो जेल चले गये, किन्तु कारवां आगे बढ़ता रहा। नमक का बनाना तो पीछे पड़ गया, लोग कानून तोड़कर जुलूस निकालने और गिरफ्तार होने लगे। राजधानी में महाभारत मच गया। राजेन्द्र बाबू को हारकर पटना आना और इसका नेतृत्व करना पड़ा। स्वर्गीय प्रोफेसर बारी साहब पर कोड़े बरसाये गये। वह घटना भूलने की नहीं है।

पटना में चरचर साहब नामक एक अंग्रेज पुलिस अफसर था। घुड़सवारों की एक टुकड़ी लेकर सदा तैयार रहता और ज्यों ही जुलूस को आते देखता, टूट पड़ता, उन पर चाबुक फटकारता, उन्हें तितर-बितर करता और पकड़कर घसीटते हुए हाजत में घुसा देता। एक दिन उसने भीड़ में बारी साहब को देखा। बारी साहब काफी ऊंचे थे, पूरे पठान। शानदार दाढ़ी, रोबदार चेहरा। उन्हें देखते ही वह टूटा और चाबुक से मारता हुआ बकने लगा—'यह लाट साहब की ओर से, यह कलेक्टर की ओर से और यह मेरी ओर से...' बारी साहब के इस अपमान ने आग में घी डाल दिया और अंततः सरकार को झुकना पड़ा।

जब मैं छह महीने की सजा भुगत कर घर आया, नमक सत्याग्रह चल ही रहा था। अतः अपने घर से ही निकट, बागमती नदी के किनारे एक सत्याग्रह आश्रम बनाकर मैं काम करने लगा। उफ, उन दिनों गांव-गांव कैसा उत्साह था? जिस गांव में जाता, पैसे मिले, अनाज मिलते, स्वयंसेवक मिलते। बात की बात में नदी के किनारे एक मकान बन गया, झंडा गड़ गया। वहीं स्वयंसेवक रहते। खाते, गांव-गांव प्रचार करते, पिकेटिंग के लिए हाट-बाजार या मुजफ्फरपुर जाते। यह स्थान मुजफ्फरपुर से सीतामढ़ी जाने वाली मुख्य सड़क पर पड़ती, इसलिए कभी-कभी सत्याग्रह के दमन के लिए घूमने वाले बलूची घुड़सवारों का धावा भी इस आश्रम पर होता।

कभी-कभी मुझे शहर भी जाना होता। शहर का आंदोलन अब गुप्त रूप धारण कर चुका था। जिले-जिले में एक-एक सत्याग्रह संचालक नियुक्त होता, जो डिक्टेटर कहलाता। प्रांत के लिए भी डिक्टेटर की नियुक्ति होती रहती। क्योंकि इन डिक्टेटरों की गिरफ्तारियां होती ही रहतीं। शहर का सत्याग्रह-शिविर कहीं गुप्त स्थान में होता, वहां से बुलेटिनें निकला करतीं, जिनके आधार पर मुफस्सिल में सत्याग्रह का संचालन होता। एक जिले से दूसरे जिले का और सब जिलों का प्रांत से संबंध गुप्त-डाक के द्वारा बना रहता। इस डाक के काम को प्रायः छोटे-छोटे बच्चे करते। एक तो उन्हें टिकट आधी ही देनी पड़ती, फिर उन पर किसी को शक भी नहीं होता। हां, यदि धोखाधड़ी में वे बेचारे पकड़ लिये गये, तो उन पर कड़ी मार पड़ती। लेकिन वाह री हिम्मत! कभी उन्होंने भंडाफोड़ नहीं होने दिया। मुझे एक बच्चे की याद है। में पटना से मुजफ्फरपुर आ रहा था। ढूंढ़-ढांढ़ कर शिविर में पहुंचा। जाड़े का दिन था, शिविरपति ने दो कम्बल दे दिये। एक बिछा दिया, एक को देह पर डाल लिया। आधी रात के बाद वहां मोतिहारी से एक बालक डाकिया पहुंचा। अतिरिक्त कम्बल था नहीं, शिविर-संचालक ने एक चादर दे दी और पूछा—'इससे काम चल जायेगा?' बच्चे ने कहा—'कटिये नु जाई।' मैं कम्बल में दुबका यह सुन रहा था और, स्पष्ट कहूं, तब से जब कभी कोई संकट आया है, बुरी घड़ी आयी है, प्रायः ही उस बच्चे का वह कथन मेरे कानों में गूंजता रहा—कटिये नु जाई।

उन दिनों पुलिस सत्याग्रहियों में आंख-मिचौनियां भी कम नहीं होती थीं। एक बार मैं स्वयं उसका अभिनेता बना। पटना से लौट रहा था। मित्रों से मिलकर जब मैं सड़क के किनारे खड़ा किसी सवारी के इंतजार में था, देखा सीआईडी का एक परिचित इंस्पेक्टर अपनी मोटर पर आ रहा है। मुझे देखते ही उसने गाड़ी खड़ी कर दी। मैंने धृष्टतापूर्वक कह दिया—'क्या जहाज घाट तक पहुंचा दोगे।' उसने अपनी गाड़ी पर मुझे बिठला लिया और घाट पर उतारकर चल दिया।

मैं जहाज पर आया। मेरे साथ एक बंडल था, उसमें सत्याग्रह संबंधी कुछ कागजात थे। ध्यान आया, कहीं उस अफसर ने भांप न लिया हो, तो बंडल को उठाकर एक निर्भृत कोने में रख आया और ऊपर के डेक पर टहलने लगा कि देखा वह सीआईडी

इंस्पेक्टर आ रहा है। उसके पीछे कुछ और लोग थे, जिनके जूते बता रहे थे, सादी पोशाक में भी ये पुलिस हैं। इंस्पेक्टर सीधे ऊपर आया। मैं हंसता हुआ उसके पास पहुंचा और बोला—'क्या, मुझे गिरफ्तार करने आये हो।' उसने कहा—'बोलो, वह बंडल कहां है।'

'बंडल! कैसा बंडल? गिरफ्तार ही करना है तो उस बंडल का क्या बहाना? हां, तलाशी भी लेना चाहते हो क्या? देख लो, खड़ा हूं। ऐसे कहकर मैंने इस तरह हाथ उठा दिया कि मैं आत्मसमर्पण कर रहा हूं। मैं जानता था कि यदि उसने तलाशी ली तो मेरी बंडी की भीतरी जेब से कुछ ऐसी चीज निकलकर रहेगी, जो मुझे फिर जेल ले जायेगी। किन्तु वह अफसर तो इस तरह हतप्रभ था कि जैसे हाथ में आयी चिड़िया फुर्र से उड़ गयी हो। वह इधर-उधर झांकता रहा कि बंडल कहां है और यह समझकर कि मैंने उसे कहीं गायब कर दिया, फिर हंसता हुआ ही वहां से चल दिया।

एक बात कहूं, इस अफसर का मैं प्रशंसक रहा हूं। अपनी ड्यूटी करनी थी, की। किन्तु कभी, जिसे 'हिटिंग विलो द बेल्ट' कहते हैं, उसने नहीं किया। वह एक मुसलमान अफसर था। किन्तु मेरा दुर्भाग्य कि जिन हिन्दू अफसरों से मेरा सामना पड़ा, उन्होंने प्रायः ही नीचता दिखलाई और आज उन्हीं नीचों और अधमियों को स्वराज्य होने पर बड़े-से-बड़े पदों पर देखकर मैं गुस्से में आपा खो बैठता हूं। उन दिनों भी वे सरकार के सबसे अधिक वफादार कुत्ते थे, आज भी वे वही हैं। आदमी जितना रंग बदलता है, बेचारा गिरगिट क्या खाकर उतना रंग बदलेगा।

अंततः गांधी-इरविन पैक्ट हुआ। हमारी विजय हुई। इस विजय ने गांधीजी को अहिंसात्मक युद्ध पद्धति पर सार्थकता की मुहर लगा दी। एक मुट्ठी नमक ने स्वराज्य का दरवाजा खोल दिया। यद्यपि उसके भीतर प्रवेश करने में हमें इसके बाद भी पन्द्रह वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। ❑

6 अप्रैल : दांडी सत्याग्रह पर विशेष

नमक ने बदला राजनीति का स्वाद

❑ रॉय मॉक्सहम

हमारा इतिहास नमक को लेकर किये गये युद्धों और विद्रोहों से भरा पड़ा है। जब भी कोई दुर्लभ वस्तु जीवन के लिए आवश्यक बनी है, उसे लेकर झगड़े हुए हैं। कई स्थानों पर नमक प्राकृतिक रूप से उपलब्ध है। वहां सामान्य रूप से उसकी तरफ कोई ध्यान नहीं जाता। अन्य स्थानों पर जहां यह आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता, वहां उस पर संपत्ति और सत्ता नियंत्रण करती है। यदि नमक का उत्पादन किसी देश के गिने-चुने स्थानों पर केन्द्रित रहता है, तब वहां शासक के लिए इसके वितरण पर नियंत्रण रख पाना संभव होता है। एक बार जब एकाधिकार स्थापित हो जाता है, फिर शासक आसानी से उस नमक पर कर लगा देता है।

चीन में साधारण नमक पर नियंत्रण का असाधारण और अविश्वसनीय रूप से लंबा इतिहास है। ईसा से 2,200 वर्ष पूर्व नमक नजराने की तरह दिया जाता था। चीन की लंबी तट रेखा जितनी सोची जाती है, उतना नमक पैदा नहीं करती थी। वांग्त्से और पीली नदी से आने वाले पानी की भारी मात्रा से समुद्र का खारापन पनियन हो जाता था। ईसा पूर्व तीसरी सदी से नमक निकालने के लिए समुद्र के पास जमीन में छेद किये जाते थे। बांस की नालियों द्वारा उन छेदों में खारा पानी बाहर निकाल कर प्राकृतिक गैस का ईंधन जला कर बड़े-बड़े कड़ाहों में सुखाया जाता था। ईसा पूर्व सातवीं सदी में 3 हजार फीट की गहराई से खारा पानी बाहर निकाला जाता था। ऐसे सैकड़ों कुएं मालगुजारी विभाग के नियंत्रण में थे। समुद्री नमक पर भी कर लगाया गया था। वहां सन् 900 तक नमक कर शासकीय आय का एक महत्त्वपूर्ण मद था। उधर चीन की पश्चिमी सीमा पर नमक इतना दुर्लभ था कि वहां तो यह मुद्रा की तरह चलन में था। नमक की छोटी भट्ठियां बनाकर उपयोग में लायी जाती थीं। तेरहवीं सदी में मार्कोपोलो ने लिखा है। पहाड़ी और कम आबादी वाले अंदरूनी प्रदेशों में व्यापारी साठ, पचास या कभी-कभी चालीस नमक की बट्टियों के ऐवज में एक सैगियो स्वर्ण प्राप्त कर लेते थे। उन प्रदेशों में रहने वाले कम शिक्षित थे, शहरों से दूर एक ही स्थान पर बने रहने के कारण उनके साथ व्यापारी ऐसा छल-कपट कर लेते थे।

सत्रहवीं सदी में शासन व्यवस्था के धराशायी होने तक वहां नमक ही आय का प्रमुख जरिया बना रहा था। बीसवीं सदी की शुरूआत में विदेशी प्रभाव में आकर इसे फिर से जीवित कर दिया गया। तब भी चीन में नमक कानून तोड़ने वाले को कठोर सजा दी जाती थी। नियम उल्लंघन के अपेक्षाकृत छोटे मामलों में बांस के चपटे डंडे से जांघ के पृष्ठभाग पर अस्सी से सौ बार लगाये जाते थे। साथ ही तीन साल तक की कैद भी हुआ करती थी। अधिक गंभीर उल्लंघन करने वालों को डंडे से पिटाई के साथ तीन हजार ली (लगभग एक हजार मील) दूर किसी निर्जन स्थान पर हमेशा के लिए भेज दिया जाता था। लेकिन ऐसी सख्ती के बाद भी वहां बड़े पैमाने पर नमक की तस्करी जारी रही थी। अन्य देशों की तरह कम लागत का लाभ उपभोक्ता को नहीं दिया जाता था। जोसेफ एडकिंस नामक एक मिशनरी ने लिखा था : नमक के अधिक दाम के कारण गरीब त्रस्त हैं। यह उन तत्त्वों में से एक है जो जीवन यापन को महंगा बनाते हैं और गरीबों पर वह बहुत भारी पड़ता है।

चीनी किसान को मिलने वाली मजदूरी का कितना हिस्सा पर्याप्त नमक खरीदने में खर्च होता होगा—यह हिसाब लगाने के लिए मैंने लंदन में 'स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज' के पुस्तकालय में एक पूरा दिन बिताया। पर यह निराश कर देने वाला अभ्यास था। नमक की कीमतें कई बार अलग-अलग मुद्राओं और तौल में बतायी गयी थीं। कैटी, चिन, तान और पिकाल जैसी

तौल इकाइयों का मूल्यांकन कैश, युआन और डॉलर में किया गया था। आमदनी का आकार कभी तो इन मुद्राओं में बताया गया था तो कभी चांदी की छड़ों के रूप में। एक पुस्तक में ऐसी भी सूचना पढ़ने को मिली कि जब तक स्पष्ट न किया गया हो, डॉलर का अर्थ मैक्सिकी डॉलर! यह सब इतना कठिन क्यों कर था, या मात्र मैं ही मूर्ख था? फिर एनसाइक्लोपीडिया साइनिका में यह टिप्पणी पढ़कर मैं उत्साहित हुआ :

''सन् 1913 में प्रचलित कर प्रणाली में सामान्यतः एक छोटा-मोटा कर तय किया जाता था। समय-समय पर उसी के इर्द-गिर्द अतिरिक्त उपकरों के जटिल ताने-बाने बुने जाते थे। आवश्यकता और अवसर के अनुसार इन्हें लगाया तो जाता था मगर एक बार लगाने पर शायद ही कभी हटाया जाता था।''

यह नमक कर उत्पादकों, लाने-ले जाने वाले व्यापारियों और उपभोक्ताओं पर मनमर्जी से लगाया जाता था। इस शृंखला के किसी भी सुविधाजनक बिन्दु पर इसकी उगाही की जाती थी। कर का हिसाब अलग पैमानों और मुद्राओं में शून्य के बाद पांच से आठ दशमलव स्थानों तक किया जाता था। कर से एकत्र धनराशि का उपयोग जिन मदों में खर्च होता था, वे इस प्रकार थे—पर्यावरण संरक्षण, पाठशालाओं का रखरखाव, मुक्केबाजों के कल्याणार्थ, तोप-नौकाओं के रखरखाव, मांचू नगर या हौंगची में अश्व प्रजनन, मंदिरों के पुजारियों और विधवाओं को गुजारा भत्ता देने वाली संस्थाओं के सहायतार्थ, जीवन रक्षक संस्थाओं और पशुवध विरोधी संस्थाओं के सहायतार्थ। ये सारे उद्देश्य किसी भी प्रामाणिक खोजबीन करने वालों को उलझन में डाल देने वाले थे।

इच्छा तो हो रही थी कि हिसाब लगाने का काम मैं यहीं रोक दूं। फिर भी मैं लगा रहा। आखिर मैंने नमक की कीमत का एक मोटा अंदाज निकाल ही लिया। उन्नीसवीं सदी में नमक का मूल्य चावल के मूल्य के बराबर बैठता था। चीन का यह नमक उस गरीब जनता पर निःसंदेह बोझा ही था, जिसे पेट पालने लायक खाना जुटाने में भी संघर्ष करना पड़ता था। हालांकि अंग्रेजों ने बंगाल में जो नमक कर थोपा था उसकी तुलना में तो यह कम ही था। भारतीय किसानों को अपने परिवार के लिए साल भर में देखें तो चीनी किसानों के लिए यह अधिक से अधिक दो दिन का पैसा खोने जितना था। कई बार नमक कर और एकाधिकार के कारण प्राप्त राजस्व में भेद करना कठिन हो जाता है। यह विशेष रूप से उन भागों में सच है, जहां नमक दुर्लभ है।

उदाहरण के लिए टिंबकटू को ही लीजिए। इसके कारोबार का आधार ही तौदेन्नी से प्राप्त नमक का पैसा था। नमक के भंडार टिंबकटू से चार सौ मील उत्तर में सहारा रेगिस्तान के बीच में थे। वहां से दक्षिण में नमक लाने वाले ऊंटों के काफिले को टिंबकटू के व्यापारी सशस्त्र सुरक्षा देते थे। पर यह काम बहुत खर्चीला और जोखिम भरा था। इन काफिलों पर अक्सर आक्रमण होते थे। फिर रेत के अंधड़ों के कारण होने वाली देरी जानलेवा बन जाती थी। कई बार रसद समय पर तौदेन्नी नहीं पहुंच पाने के कारण लोग मारे गये थे। तब खदानों में काम करने वाला पूरा अमला नये सिरे से जुटाना पड़ता था। सन् 1805 में नमक ला रहा ऐसा एक पूरा काफिला, जिसमें 1800 ऊंट और 2000 आदमी थे, प्यास के कारण मारा गया था। यदि कोई काफिला किंबकटू पहुंचने में सफल हो जाता, तब तो फायदा ही फायदा होता। एकाधिकार के कारण नमक को भारी कीमत पर बेचा जाता। इस प्रकार जहां नमक का अन्य कोई स्रोत नहीं होता, व्यापारी एक बड़े इलाके से पैसा खींच पाते थे। भारत के मलंगियों की तरह ही, जो नमक निकालते थे वे इस सम्पत्ति का बहुत कम अंश पाते थे। अभी-अभी तक खदानों में गुलाम कर्मचारी हुआ करते थे। यह व्यवस्था फ्रांसीसी शासनकाल में भी जारी रही।

सन् 1974 में माली द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, मैंने मोक्ती से किंबकटू तक का सफर नाइजर नदी में एक छोटी नाव में किया था। किंबकटू से कुछ ही पहले खुले रेगिस्तान में नदी किनारे हमने पड़ाव डाला था। उसी दिन कई सौ ऊंटों का एक कांरवां वहां पहुंचा था। ये लोग सौदेनी से नमक की फर्सियां ला रहे थे। भूरे रंग के वे टुकड़े जो आकार में कब्र के पत्थरों जितने थे, ऊंट के दोनों ओर लटक रहे झोलों में लदे हुए थे। फिर उन्हें ऊंटों से उतारकर नाव में इस हद तक भरा गया था, जैसे कि नाव खतरनाक ढंग से पानी में धंस नहीं गयी थी। मैंने उस काफिले के एक कतारिये एक ऊंट सवार से पूछा था, 'क्या खदानों में अभी गुलामों से काम लिया जाता है?'

'नहीं-नहीं', उसने विरोध करते हुए जवाब दिया था। 'अब नहीं, बिल्कुल ही नहीं। अब तो सारो काम राजनैतिक बंदियों से करवाया जाता है!'

भारत नमक कर के लगभग सामानांतर उदाहरण हम यूरोप में भी पा सकते हैं। ई. पूर्व सन् 506 में रोमन शासन ने टाइबर नदी के मोहाने पर स्थित नमक उत्पादन अधिग्रहित कर लिया था। रोमन सैनिकों को नमक खरीदने के लिए एक अलग भत्ता दिया जाता था। उसे 'सैलेरियम' कहते थे। इसी से 'सेलरी' यानी तनख्वाह शब्द का जन्म हुआ है। ई. पू. 3सरी सदी में द्वितीय पनिक युद्ध का खर्च वहन करने के लिए नमक पर कर लगया गया था। पूरे रोमन युग में विभिन्न अवसरों पर नमक कर लगाया जाता रहा। यह कभी अधिक तो नहीं रहा, लेकिन इन्हीं शुरुआती करों से नमक के जरिये राजस्व की प्राप्ति की कल्पना बाद में यूरोप में स्थापित हो सकी थी।

अधिकांश यूरोपीय देशों में किसी न किसी समय, किसी न किसी रूप में नमक पर कर लगाया जाता रहा है। जीवित रहने के लिए तो नमक जरूरी है ही, इसके अलावा खाद्य सामग्री को टिकाये रखने की प्रक्रिया में भी नमक की जरूरत होती थी। आधुनिक काल तक सभी पालतू जानवरों को जाड़े भर खिला पाना संभव न होने के कारण हेमंत ऋतु में उन्हें मार दिया जाता था। खाने लायक बनाये रखने के लिए उन्हें नमक लगाकर या खारे घोल में डुबोकर रखा जाता था। मछलियों और कुछ सब्जियों को भी इसी तरह सुरक्षित रखा जाता था। इस कारण भी बड़ी मात्रा में सस्ते नमक की जरूरत बनी रहती थी।

लेकिन इंग्लैंड में नमक कर कभी कष्टकारी नहीं रहा। यूरोप के अन्य देशों में जरूर था। इंग्लैंड इस मामले में अन्य यूरोपीय देशों से अलग था। यहां सन् 1694 तक

नमक कर था ही नहीं। इससे पहले इंग्लैंड में अधिकांश नमक आयात किया जाता था। इस पर सन् 1303 में एक अल्प आयात कर भी लगाया गया था। फिर चेशायर और वूर्स्टरशायर के भारी नमक भंडारों के कारण इंग्लैंड नमक के मामले में लगभग आत्मनिर्भर हो गया, तब धीरे-धीरे आयात कर का महत्त्व भी खत्म होता गया। लेकिन उस सदी के अंत में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध के कारण इंग्लैंड में नमक कर को उसके उच्चतम स्तर तक बढ़ाया गया। प्रधानमंत्री विलियम पिट ने कर को नमक की कीमत से तीस गुना अधिक तक बढ़ा दिया था। इस कारण एक पौंड वजन के नमक पर एक पौंड स्टर्लिंग के सौवें हिस्से का कर भार बढ़ा। इसे युद्ध की खातिर जरूरी मान कर मान्य किया गया। परंतु जैसे ही युद्ध में नेपोलियन की पराजय हुई, कर हटाने के लिए सरकार पर दबाव आ गया। इसे क्रमवार घटाया गया। सन् 1825 में जब अंग्रेज भारत की जनता पर अधिकाधिक भारी नमक कर लगा रहे थे, तब इंग्लैंड में इसे अंततः खत्म कर दिया गया था। फिर इसे दोबारा वहां कभी लगाया नहीं गया।

खाड़ी के उस पार, फ्रांस में नमक कर का इतिहास एकदम अलग था। भारत की तरह यहां कठोरता से कर लगाया गया था। फ्रांसीसी नाम 'गॅबेले' से कुख्यात नमक कर का इतिहास युद्ध और बगावतों से भरा है। अन्य वस्तुओं की तरह नमक पर भी कर लगता था जब वह एक जागीरदार के इलाके से दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करता था। सरहदों, सदर दरवाजों, पुलों और छोटी रपटों पर कम राशि की चुंगियां ली जातीं थीं।

फ्रांस में विभिन्न राजाओं के अधिपत्य वाले क्षेत्रों में गॅबेल की वसूली समान स्तर पर नहीं होती थी। ब्रिटनी जैसे कुछ प्रदेशों में राजा के प्रति जनता की वफादारी सुनिश्चित करने के लिए कर माफी थी। अन्य प्रदेशों में जहां नमक के थाले थे, कर का स्तर मामूली था ताकि उगवाही आसान हो सके। देश के उत्तरी प्रांत 'ग्रैंड गैबेले' में कर से प्राप्त होने वाला राजस्व सर्वाधिक था। जहां बसने वाली देश की एक तिहाई जनता कुल कर भार का दो तिहाई हिस्सा चुकाती थी। जहां नमक की प्रति व्यक्ति औसत खपत गिर कर पांच किलोग्राम प्रतिवर्ष हो गयी थी। यह दूसरे कम कर वाले प्रांतों से आधी थी। खेतों में काम करने वाले जानवरों को नमक नहीं दिया जाता था और माना गया कि इसी कारण वहां कृषि उत्पादन हमेशा कम रहा। आंकड़ों के इस तमाम खेल के बावजूद हर कृषक परिवार की साल में छह हफ्तों की मजदूरी गैबेले को भेंट चढ़ जाती थी। चार सदियों तक नमक पर साल दर साल कर लगाया जाता रहा। इसे बेरहमी से वसूला जाता रहा और न चुकाने वालों को सजा कठोरतम दी जाती रही।

फ्रांसीसी नमक कर का एक असाधारण पक्ष भी था। लोगों को प्रति सप्ताह तयशुदा न्यूनतम मात्रा में नमक खरीदना ही पड़ता था। उतना नमक न खरीदना अपराध की श्रेणी में आता था। इस व्यवस्था की सख्ती के कारण कर वसूली काफी आसान हो गयी थी। गैबेले की प्रत्यक्ष वसूली का काम सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को दिया जाता था। वसूली अधिकारी प्राप्त व्यक्ति अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए हर संभव प्रयत्न करता था। फसलें नष्ट होने जैसी आपात स्थितियों में भी कोई ढील नहीं दी जाती थी। व्यवस्था को पुख्ता बनाने के लिए शासन अपने निरीक्षक नियुक्त करता था, जिनके पीछे फौजी टुकड़ियों का सैन्यबल रहता था। तस्करी या कर अपवंचन करने वालों पर भारी जुर्माना ठोंका जाता था। जो कर चुकाने की स्थिति में नहीं होते, उन पर कोड़े बरसाये जाते और कैद में डाल दिया जाता। सन् 1680 में सजा और जुर्माना बढ़ा दिया गया। सादी तस्करी करने पर समुद्री जहाजों पर चप्पू चलाने की और सशस्त्र तस्करी पर मौत की सजा दी जाने लगी। यह माना जाता है कि फ्रांसीसी नौकाओं को खेने वाले एक तिहाई गुलाम नमक संबंधी अपराधों से सजायाफ्ता हुआ करते थे।

फ्रांसीसी गैबेले पूरे यूरोप में कुख्यात था और उत्पीड़न का पर्याय बन गया था। इसमें आश्चर्य नहीं है कि अन्यत्र इसी तरह के कर लागू करने के प्रयत्नों का हिंसक विरोध हुआ। इसका परिणाम सत्रहवीं सदी में सिसली में विद्रोह और पाइडमौंट में चार साला नमक युद्ध हुआ। फ्रांस में ही शासन के खिलाफ सर्वाधिक बड़ी बगावत हुई। सन् 1548 में हैनरी द्वितीय ने दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस में गैबेले थोपने का प्रयत्न किया। ये प्रांत जो अपना नमक खुद पैदा करते थे, पहले कर से मुक्त थे। गुस्से से भरे किसानों ने अपनी-अपनी बाड़ियों में खुद की सेनाएं संगठित कीं। उन्होंने एगोलेमी की घेराबंदी कर दी, जहां महसूल अधिकारियों का मुकाम था। उस समय तो शासन को पीछे हटना पड़ा और कर भी निरस्त करना पड़ा। फ्रांसीसी किसान पूरे यूरोप में लोकप्रिय नायक बन गये थे।

मैं जो भी कुछ खोज पाया था उससे यही बात सामने आयी कि अंग्रेजों द्वारा भारत में जो नमक कर लगाया गया था, उसकी टक्कर का केवल फ्रांस का नमक कर ही था। कर चोरी का दंड फ्रांस में कहीं अधिक कठोर था। कर चोरी जब तक हिंसक नहीं होती, उसकी सजा साधारणतः छह सप्ताह का कारावास होती थी। फ्रांस में आदमियों को कई वर्षों के लिए नौकाएं खेने के लिए भेज दिया जाता। भारत में नमक कर की दर निश्चित ही अधिक पीड़ादायक थी। आमदनी के अनुपात में देखा जाये तो एक ही तौल के नमक पर दोनों देशों में लगभग समान कर था।

फ्रांसीसी किसानों की तरह भारतीय किसानों ने भी नमक कर के विरोध में बगावत क्यों नहीं की? ऐसा कहा जाता है कि 'वे इन बातों को ईश्वर की इच्छा' मानकर स्वीकार कर लेते हैं। परंतु यह ठीक नहीं लगता। एक तर्क यह भी हो सकता है कि नमक की कमी के वैसे लक्षण शरीर में नहीं दिखते जैसे पानी या भोजन की कमी के दिखने लगते हैं। जब नमक रोक दिया जाता है, तब शरीर को नमक की तलब नहीं लगती और नमक की कमी से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को कोई अन्य बीमारी का लक्षण मान लिया जाता है। पीड़ित व्यक्ति अक्सर यह समझ नहीं पाता कि उसे बेचैनी क्यों हो रही है।

खाते-पीते भारतीयों के लिए नमक पर अधिक कर एक मामूली-सी परेशानी भर था। परंतु अंग्रेजों ने ऐसा कोई कर साधारण किन्तु आवश्यक वस्तु के बजाए जमीन-जायदाद और आनंद उपभोग पर लगाया होता तो उन लोगों की हालत खराब हो सकती थी। कई

बार सुझाया गया कि नमक के बजाय चीनी पर कर लगाया जाना चाहिए। चीनी की खपत भी लगभग नमक जितनी ही थी। फिर भी दोनों की खपत में एक बड़ा फर्क था। नमक एक बहुत जरूरी चीज होने से हर किसी को एक न्यूनतम मात्रा में उसका मिलना आवश्यक था। परंतु इसकी अति अरुचिकर थी। परिणाम यह हुआ कि गरीबों को भी अमीरों के बराबर ही कर चुकाना पड़ा। चीनी पर लगा कर धनिकों पर भारी पड़ता और गरीबों पर हल्का। निराधार जनता उससे मुक्त रहती। नमक के बजाए चीनी पर कर लगाने से जानें भी बच सकती थीं। स्वास्थ्य बिगड़ने के बजाए सुधर सकता था। ज्वर और आंत्रशोध के कुप्रभाव से बचने के लिए गरीब लोग नमक खरीदने की स्थिति में होते। इंग्लैंड की संसद में नमक की जांच में इस बात की जोरदार वकालत की गयी थी। बंगाल चिकित्सा सेवा के सदस्य डॉ. मूर ने अपने बयान में कहा था, 'चीनी पर लगाया हुआ कर ऐसे वर्ग पर भार बनता जो उसे वहन करने में सक्षम थे बनिस्बत उसके जिसे अब यह चुकाना पड़ रहा है।'

सन् 1857 के गदर के बाद नमक एकाधिकार की नीति को और भी बनी। यह एक ऐसा समय था जब अंग्रेजी हुकूमत के थोड़े भी विरोध का तत्काल और प्रचंड शक्ति के साथ दमन कर दिया जाता था। किसी भी तरह के विरोध के प्रदर्शन के लिए वह उचित समय नहीं था, और आय के ऐसे महत्त्वपूर्ण स्रोत के विरुद्ध तो बिलकुल भी नहीं। उसी सर्दी में नमक कर के विरुद्ध हिंसा फूट पड़ने की कुछेक घटनाएं उड़ीसा और सूरत में हुई थीं। परंतु उन्हें तुरंत दबा दिया गया था और वे फैल नहीं पायी थीं। गदर के बाद—सन् 1857 के बाद भारत पर अंग्रेजी हुकूमत से सीधा नियंत्रण स्थापित होने के बाद गांधीजी के नमक सत्याग्रह तक, सन् 1930 तक—नमक कर का कोई उल्लेखनीय विरोध नहीं हुआ।

आजकल जब लोग भारतीय नमक कर के बारे में सोचते हैं तो उसका केन्द्र गांधीजी की दांडी यात्रा होता है। रिचर्ड एटेनबरो की फिल्म 'गांधी' में जिस तरह इसका मार्मिक चित्रण हुआ है वह भारतीय जनमानस में हो नहीं, विश्व के दिमाग में बस गया है। मुझे यह जानकर अचरज हुआ कि सन् 1930 में दांडी यात्रा के समय नमक पर कर अपेक्षाकृत कम हो चुका था। एक मन नमक पर यह सवा रुपया था। चुंगी रेखा के अंदर यह तीन रुपये या इससे कुछ अधिक था। मुद्रास्फीति के कारण कृषि मजदूरी की दर तीन रुपये से बढ़कर बारह रुपये प्रतिमाह हो गयी थी। इस तरह कर का जो भार पहले था, वह अब घट कर दसवां हिस्सा बच गया था। अंग्रेज शासन को घेरने के लिए जब गांधीजी ने नमक कर का मुद्दा चुना तब वह कोई स्वयंसिद्ध विकल्प नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता नमक के बदले कुछ अन्य लोकप्रिय मुद्दों को आगे बढ़ाने के पक्षधर थे : जैसे भूमि कर खत्म करने, दिल्ली मोर्चा निकालने या एक समानांतर सरकार बनाने जैसी बातें उनके मन में थीं। उनकी दृष्टि में नमक कर एक मामूली-सा मुद्दा था। लेकिन गांधीजी ने नमक कर को साफ-साफ एक अन्याय की तरह देखा था, जिसका बचाव करना शासन के लिए बेहद कठिन था। उन्होंने लिखा : ''हवा और पानी के बाद शायद नमक ही जीवन की सबसे बड़ी जरूरत है। गरीबों के लिए तो यही एक मसाला है। मवेशी भी बगैर नमक के नहीं रह सकते...पानी को छोड़कर नमक जैसी और कोई चीज नहीं है, जिसपर कर लगाकर कोई सरकार करोड़ों भूखों मरने वालों, बीमारों, लूले-लंगड़ों और बेसहारों तक से भी कर वसूल कर सके। इसलिए यह नमक कर मानव की बुद्धि द्वारा खोज निकाला गया एक बहुत ही अमानवीय कर है।''

गांधीजी के लिए यह बड़ी योजना का हिस्सा था : ''मैं शासन को नमक पर उसके अवैध एकाधिकार से वंचित करना चाहता हूं। मेरा उद्देश्य नमक कर को खत्म करवाना है। यह मेरे लिए एक कदम है, पूर्ण स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम।' उन्होंने इसे अपने सत्याग्रह के केन्द्रीय तत्त्वज्ञान के प्रचार के आदर्श माध्यम की तरह देखा। अन्याय के विरोध में लड़ने का एक अहिंसक हथियार। 12 मार्च सन् 1930 को गांधीजी अपने 78 अनुयायियों के साथ नमक कानून तोड़ने के लिए निकल पड़े। ये लोग भारत की विभिन्न जाति, धर्मों और प्रांतों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से चुने गये थे। साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर दांडी तक वे पदयात्रा करने वाले थे। वहां 241 मील दक्षिण में वे अवैध रूप से समुद्र से नमक बनाने वाले थे।

इस यात्रा में पचीस दिन का समय लगा। सबसे पहले स्वयंसेवकों ने अहमदाबाद में फेरी लगायी। उन्हें देखने के लिए एक लाख लोग उमड़ पड़े। फिर ये ऐसे रास्ते से निकल पड़े जो उन गांवों से होकर जाता था, जो कांग्रेस के प्रबल समर्थक थे। रात्रि पड़ाव से पहले दिन भर में यात्रा ऐसे कई गांवों से होकर गुजरती। हर पड़ाव पर यात्रा का समारोहपूर्वक स्वागत होता और फिर गांधीजी हजारों के उपस्थित समुदाय को संबोधित करते। कांग्रेस के स्वयंसेवक इस कार्य के लिए चंदा इकट्ठा करते। कर वसूली के लिए अंग्रेजों द्वारा नियुक्त गांव का मुखिया 'पटेल' और स्थानीय पुलिस अधिकारी यात्रा के समर्थन में स्वेच्छा से अपना पद त्याग कर देते। ऐसा कई स्थानों पर हुआ।

अंग्रेज अधिकारी बड़ी विचित्र स्थिति में थे। वे कानून पालन करवाना चाहते थे जिसमें पांच सौ रुपये के अर्थदंड, और न चुका पाने पर छह माह की कैद का प्रावधान था। परंतु वे गांधीजी को शहीद भी नहीं बनाना चाहते थे। गांधी और उनके सहयात्री जब आश्रम से चले थे, तब उन्हें आशा थी कि वे तुरंत ही गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। पर अंग्रेजी शासन ने रुककर देखने का निर्णय लिया। उसे उम्मीद थी कि यात्रा खुद ही कमजोर पड़ कर खत्म हो जायेगी।

परंतु दांडी यात्रा बहुत बड़ी सफलता सिद्ध हुई। इसने न केवल जनसमुदाय को अपनी ओर आकर्षित किया बल्कि भारत भर में और विश्व में प्रसिद्धि पायी। सरकार हिचकिचाती रही। 5 अप्रैल को सुबह पदयात्री छोटे से दांडी गांव पहुंचे। रेतीले तट के गड्ढों में पीछे हटे समुद्र का पानी भरा हुआ था। सूखने के कारण किनारों पर नमक के कण जम गये थे। गांधीजी ने पूरा दिन अखबार के प्रतिनिधियों से बातचीत और समूहों को संबोधित करते हुए बिताया। लोगों से कहा कि आप लोग आज यह प्रण कर सकते हैं कि

शासन द्वारा मुहैया किया हुआ नमक नहीं खायेंगे। नमक की खदान आपके द्वार खड़ी है। अगली सुबह छह बजे गांधीजी ने समुद्र में स्नान किया। आधे घंटे बाद वे चलकर एक गड्ढे के पास गये जहां पानी के छोड़े हुए किनारों पर नमक जमा था। उन्होंने थोड़ा-सा नमक हाथ में उठा लिया। सख्त नमक कानून भंग हो चुका था।

गांधीजी के साथ एकत्र हजारों लोगों ने थालियों, बरतनों में समुद्र का पानी भरा और उसे उबाल कर नमक बनाया। इस तरह बना नमक छोटी-छोटी थैलियों में भरकर आगंतुकों को बेचा गया। दोपहर में पास के ही एक गांव में पुलिस ने इस प्रकार बनाया हुआ कुछ नमक जब्त किया। लेकिन कोई गिरफ्तारी नहीं की गयी। इस बीच कांग्रेस की निगरानी में पूरे गुजरात भर, बंबई और दिल्ली में नमक कानून का उल्लंघन जारी रहा। शाम को जाकर दांडी से दूर पुलिस ने पहली गिरफ्तारी की। कांग्रेस के साथ कार्यकर्ताओं को पकड़ा गया।

अगले कुछ हफ्तों में आंदोलन ने और जोर पकड़ा। कई गिरफ्तारियां हुईं, संपूर्ण गुजरात तट पर नमक का 'अवैध' उत्पादन जारी रहा। अब तो लोगों ने दूसरे कर चुकाने से भी इंकार कर दिया। उन्होंने अंग्रेजी वस्त्रों की होली जलायी। गांधी इस प्रतिकार के प्रचार-प्रसार के लिए देश भर में यात्राएं करते रहे मगर उन्हें अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया था। अप्रैल के अंत में गांधीजी ने इस आंदोलन को और अधिक फैलाने की घोषणा की। उन्होंने अपने अनुयायियों से आह्वान किया कि वे सरकारी नमक गोदामों पर छापे मारने की योजना में शामिल हों, धरसाना, भायंदर और खाराघोड़ा के नमक के थालों को लूट लें और भारत का सारा नमक अपने हाथों में ले लें, जो उनकी राय में अंग्रेजों ने अन्यायपूर्वक अपने कब्जे में कर रखा था। 4 मई को गांधीजी ने वाइसरॉय को एक पत्र लिखा जिसमें धरसाना पर छापा करने की अपनी मंशा की सूचना थी। गांधीजी को बगैर मुकदमें के कैद करने का निर्णय पहले ही लिया जा चुका था। उसी रात उन्हें गिरफ्तारी कर जेल में डाल दिया गया।

गांधीजी की गिरफ्तारी से भी छापे पड़ने रुके नहीं। 12 मई को कुछ मूल दांडी यात्रियों ने धरसाना के नमक कारखानों तक पहुंचने का प्रयत्न किया और गिरफ्तार कर लिये गये। तीन दिन बाद एक और छापे के दौरान उन्हें बुरी तरह पीटा गया। 21 मई को कोई 2500 स्वयंसेवक धरसाना में एकत्र हुए। पूरी तरह मौन रहते हुए वे नमक के ढेरों की ओर बढ़ चले। वे पानी भरे गड्ढों और कंटीले तारों के अवरोधों से घिरे हुए थे। अंग्रेज अफसरों के मातहत चार सौ पुलिस जवानों और चौबीस बंदूकधारियों ने उन्हें रोका। स्वयंसेवकों की एक कतार आगे आयी। उन्होंने पुलिस द्वारा बिखर जाने के आदेश को अनसुना कर दिया। लोहे की नोक वाली बेतों से पुलिस उन पर टूट पड़ी। आगे बढ़ने वालों ने उनके प्रहारों से बचने का जरा भी प्रयत्न नहीं किया। मार कर जब उन्हें धराशायी कर दिया गया तो स्ट्रेचरों पर लादकर उन्हें दूर ले जाया गया। फिर एक के बाद एक स्वयंसेवकों की मार इसी तरह का बर्बर सलूक सहने के लिए आगे आती गयी। जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया पुलिस और अधिक क्रोधित होते चली गयी। उसने जख्मी लोगों को पेट और गुप्तांगों में लातों से मारा। वहां उपस्थित एक अमेरिकी पत्रकार ने 320 जख्मियों की गिनती की। कई की खोपड़ियां फटी थीं और दो सत्याग्रही मारे गये थे।

मई के पूरे महीने देश भर में नमक गोदामों पर छापे पड़ते रहे। बंबई के पास बड़ाला में सैकड़ों बंदी बनाये गये और कई जख्मी हुए। वर्षाकाल आने वाला था और नमक उत्पादन का काम वैसे भी असंभव था। पर्याप्त प्रचार से संतुष्ट होकर जून में कांग्रेस ने आगे की छापों की योजना स्थगित कर दी।

आयातित वस्त्रों के निषेध और कर न चुकाने को प्रोत्साहन देने के लिए भी यही तरीका अपनाया गया। अहिंसक सविनय अवज्ञा आंदोलन के कारण मजबूर होकर आखिरकार अंग्रेजों को गांधीजी को मुक्त कर उनके साथ समझौता करना पड़ा। मार्च 1931 में गांधीजी और वाइसराय के बीच एक करार हुआ। कांग्रेस अपना सविनय अवज्ञा आंदोलन रोकने के लिए तैयार हो गयी। इनमें नमक के विरुद्ध आंदोलन भी शामिल था। गांधीजी को नमक कर खत्म होने की आशा थी। परंतु एक कमतर छूट पर समझौता करना पड़ा : नमक उत्पादन वाले क्षेत्रों में लोग अब अपनी आवश्यकता का नमक स्वयं बना सकेंगे। नमक आंदोलन की अहिंसक कार्यवाही के कारण जो आत्मविश्वास और प्रचार मिला, उसके कारण देश की राजनीति सदा के लिए बदल चुकी थी। फिर भी नमक कर अभी और पंद्रह वर्षों तक वसूला जाना था।

2 सितंबर 1946 को अंग्रेजी शासन के स्वाधीन भारत में परिवर्तित होने की देखरेख करने वाली अंतरिम सरकार को शपथ दिलायी गयी। उस दिन गांधीजी का साप्ताहिक मौन था। वे कुछ भी बोलने वाले नहीं थे। बस उन्होंने नमक कर तत्काल खत्म करने संबंधी एक पर्चा नये मंत्रियों को थमाया था। यह अंततः होकर रहा। इस तरह अंग्रेजों के भारत छोड़ जाने के छः महीने पहले, 28 फरवरी 1947 को नमक कर समाप्त हुआ। ❑

प्रकाशकीय घोषणा-पत्र

(फार्म-4, नियम-8 के अनुसार)

प्रकाशन स्थल	: सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी
प्रकाशन अवधि	: पाक्षिक
मुद्रक का नाम	: श्री आनन्द जैन
नागरिकता	: भारतीय
पता	: भेलूपुर, वाराणसी
प्रकाशक का नाम	: शेख हुसैन
नागरिकता	: भारतीय
पता	: सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी
संपादक का नाम	: अशोक मोती
नागरिकता	: भारतीय
मालिक का नाम	: सर्व सेवा संघ
पता	: सर्व सेवा संघ राजघाट, वाराणसी

मैं शेख हुसैन एतदद्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं। **–शेख हुसैन**

प्रकाशक के हस्ताक्षर

कविता

अकेला कहां मैं



❑ *बोधिसत्व*

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तो
वे पेड़ साथ चलते हैं
जिन्हें कभी सींचा था
जो कब के कट चुके हैं

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तो
वे औरतें, वे बेटियां साथ चलती हैं
जिन्हें हम अपमानित होने और
जलने से नहीं बचा पाये।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता
वे खेत साथ चलते हैं
जिन्हें कभी जोता करता था
जो अब परती पड़े हैं।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता
कबीर साथ होते हैं
मीरा साथ होती है
जो हर मोड़ पर खड़े मिलते हैं
उदास और फटेहाल।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता
अनेक अपमान साथ होते हैं
अनेक दुत्कार साथ होते हैं।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता
तुम्हारा प्रेम साथ होता है
जो किसी वन में खो गया।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तब
दंगे साथ चलते हैं
एकमरी हुई गाय साथ चलती है
एक सुलगता हुआ देश साथ चलता है।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तो
गांधी साथ चलते हैं
उनकी छाती में धंसी गोलियां
साथ चलती हैं।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तो
महानगर की रोशनी के पीछे
जलकर राश हो रहे गांवों का
विलाप साथ चलता है।

अकेला कहां होता हूं
जब कोई साथ नहीं होता तो
पिता की कराह साथ चलती है
उनकी सूखी मुरझाई आंखें
साथ चलती हैं।

चाहता हूं तो भी
अकेला कहां हो पाता हूं
चौतरफा नफरत की आंधी का बवंडर है
टूटा पड़ रहा है
तो चौतरफा प्यार के लिए
मर रहे लोग हैं, मारे जा रहे हैं।
तय नहीं हो पा रहा कि
जीने का उपाय अधिक है कि
मरने का सलीका बेहतर है
तय नहीं हो पा रहा कि
रुलाई अधिक सुनाई दे रही है कि हंसी
तय नहीं हो पा रहा है कि
अगला सूरज पिछले से अधिक
धवल होगा या मलिन

ऐसे में, अगले हजार साल
सूर्य की रोशनी नापने के लिए
मुझे यहीं कहीं रुकना होगा
जबकि यह तय नहीं हो पा रहा है कि
धरती की धूर्णन गति
कम हो रही है कि अधिक
तो अगले कई सौ साल तक
पृथ्वी की गति नापने के लिए
मुझे जागते रहना होगा।

उसके बाद भी
जब तक अपने बच्चों को
ये सारे गुन न सिखा दूं
जब तक उन्हें तारों से
बात करना न सिखा दूं
जब तक उन्हें पेड़ों की
पीड़ा दूर करना न बता दूं
जब तक उन्हें आकाश को
रफू करना न सिखा दूं
जब तक चंद्रमा को उज्ज्वल करने का
मंत्र न दे दूं
तब तक कहीं और कैसे जा सकता हूं।

जलते हुए घर से निकल कर
बाहर तो हो सकता हूं लेकिन
उसे जलता हुआ छोड़ कर
दूर कैसे जा सकता हूं
अगर चला भी गया अकेला तो
जलते हुए घर की परछाई साथ होगी।

जब तक पानी पर तारों की
छाप दिखती रहेगी
जब तक रोटी जलती सिंकती रहेगी
जब तक भूमि को फावड़े चूर चूर
करते रहेंगे
जब तक पंछी पतंग की तरह
आकाश में उड़ान भरेंगे
जब तक वृक्षों पर परिंदें घर बनाते रहेंगे
जब तक नक्षत्र लोक से टूट कर
गिरती रहेंगी उल्काएं
मैं कहीं और कैसे जा सकता हूं।

और कहीं चला भी गया तो भी
अकेला कहां हो सकता हूं
जब कोई साथ नहीं होगा तो
हमारे तुम्हारे घोर चुम्बन साथ होंगे
गहन आलिंगन साथ होंगे
हमारे तुम्हारे प्रगाढ़ घुलनांक साथ होंगे
हमारे तुम्हारे पसीने की गमक साथ होगी
तुम्हारे सांस की भाफ साथ होगी

जिन्हें न तुम भूल पाओगी
और जिन्हें न हम भूल पायेंगे। ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा प्रिन्टेक, इंडियन प्रेस कॉलोनी, मलदहिया, वाराणसी से मुद्रित। प्रधान संपादक : बिमल कुमार / संपादक : अशोक मोती।